मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

आचार्यकृष्णानन्दसागरः

Shri Shivoham Sagar Granthamala's Twelfth Pushpa



MĀLINĪVIJAYOTTARATANTRAM

Published by
Sarvadarśanācārya
Śrī Kṛṣṇānanda Sāgara
Edited with Introduction

Under direction from
1008 Mahāmaṇḍaleśwara
Śrī Swāmī Akhaṇḍānanda Sāgara Mahārāja

श्रीशिवोऽहं सागरग्रन्थमालायाः द्वादशं पुष्पम्



मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्डलेश्वर-
श्रीमदखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन
सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण
भूमिकया सह संपाद्य
प्रकाशितम्

Published by

Acharya Krishnanand Sagar
D. 38-135
VARANASI-221010

And

Shri Madhvanand Ashram
P. O.-Dharmaj : Distt.-Kheda
GUJARAT.

First Edition
1985

Price Rs : 04/-

Printed by
Varanasey Mudranalay
Suraj Kuṇd, Varanasi

भूमिका

शिव-शक्ति से प्रेरित होकर देवर्षि नारद मुनियों के साथ कुमार के समीप गये और उनका अभिवादन कर योग की अप्रकट प्रक्रिया प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की। कुमार ने भी इनकी प्रार्थना स्वीकार कर शिव द्वारा उमा को बताये गये मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के अप्रकट रहस्य को बताया।

प्रस्तुत मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में तेईस अधिकार हैं। व्याप्ति, मन्त्रोद्धार, भुवनाध्वा, देहमार्ग, मुद्रा, समय, क्रियादीक्षा, अभिषेकदीक्षा, भूतजय, तन्मात्र-धारणा, अक्षधारणा, परमविद्या, कुलचक्र, मन्त्रनिर्णय, चन्द्राकृष्टि, सूर्याकृष्टि आदि विषयवस्तुओं का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की प्रारम्भिक कारिकाओं से यह ज्ञात होता है कि इसके मूल में सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र था और जिसमें नौ करोड़ कारिकाएँ उपलब्ध थीं तथा शैवदर्शन की भेद, भेदाभेद एवं अभेदरूप में व्याख्या की गयी थी। जबकि सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र का पूर्व भाग सिद्धमत तथा अन्तिम भाग मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के रूप में है। इसकी वर्णमाला के माला शब्द से मालिनी संज्ञा पड़ी है। यद्यपि वर्णविज्ञान के क्रम के विचार से पूर्वमालिनी एवं उत्तर-मालिनी ये नामद्वय प्रसिद्ध हैं। वर्णों की अभिव्यक्ति और ध्वनि के विचार से संस्कृतवाङ्मय की वर्णमाला के विशुद्धवैज्ञानिक उदयक्रम का पूर्वमालिनी में विवेचन किया गया है और वर्णों के स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक उदयक्रम पर ध्यान नहीं दिया है इसलिये स्वर एवं व्यञ्जन समुदाय का अक्रमपूर्वक उत्तरमालिनी में विवेचन देखा जाता है। उत्तरमालिनी को 'नादिफान्ता' कहा जाता है, इसलिये कि इसके वर्णों के क्रम में 'न' आदि में और 'फ' अन्त में होता है। शिव एवं शक्ति के संवाद के रूप में इसका लेखनकार्य किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मन्त्रशक्ति के माध्यम से साधक की देह में प्राण संक्रमण की प्रक्रिया का उल्लेख है। श्रीतन्त्रालोक में मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की पूर्वशास्त्र नाम से प्रसिद्धि है और मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का बहुधा उल्लेख भी किया गया है।

तान्त्रिक पूजा :—

तन्त्र वैदिक अनुष्ठानों का अनुकरण है या तो विकसित स्वरूप है या संशोधित रूप है। तन्त्रविदों के मत में कलियुग में साधक अपनी इच्छाओं की पूर्ति अविलम्ब ही कर सकता है और यह वेदों की पूजा से भिन्न नहीं है, इसमें परमात्मा के सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् स्वरूप को कायम रखा गया है। द्वैत का अद्वैत में पूर्ण-विलय ही तन्त्रशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। पूजा करनेवाला स्वयं पूजित हो जाता है, उसका देह देवालय है तथा उसमें रहने वाली मूर्ति आत्मा बन जाती।

तन्त्र में मुक्ति का स्वरूप:--

तान्त्रिक दृष्टि से मुक्ति पद का अर्थ आत्मानुभूति द्वारा शक्तियों का प्रकाशन है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मर्त्य शरीर का त्याग कर देना और मृत्यु से छुटकारा पा जाना हो मात्र नहीं है अपितु एक सत्यनिष्ठ तन्त्रवेत्ता के लिये जन्म एवं मृत्यु उसकी अपनी रचना का ही दृश्य है। उसे एक से जितना सुख प्राप्त होता है, उतना ही दूसरे से विनाशकारी उपकरणों में भी भैरव का आतंक रहता है और उसी की साधु इच्छा पर जगत् प्राणशील-गतिशील है, तथा अस्तित्व युक्त है। उसकी भक्ति का पूर्ण उद्देश्य यह है कि मृत्यु का महत्त्व केवल उसके लिये जो मृत्यु के विषय हैं, उनके लिये नहीं जो कि आत्मा को अमर्त्य मानते हुए मरणधर्म से ऊपर उठ गये हैं।

इसप्रकार वेदों को माननेवाले के सदृश तन्त्रवेत्ता पुरुष परमार्थ के पथ पर शनैः शनैः प्रस्थान करता हुआ प्रकृति के घनिष्ठ सामीप्य का अनुभव प्राप्त कर लेता है उसके लिये चराचरात्मक सारा विश्व-प्रपञ्च दिव्यप्रकाश का ही स्वरूप है। यह दैवी सत्ता उसकी सारी पाशविक प्रवृत्तियों को समाप्त कर देती है और उसे अपने दिव्यजीवन के उद्देश्य के लिये सदैव प्रेरित करती है उसका आत्मकेन्द्रित होना उसे सुख देता है व उसमें नूतन-प्राणशक्ति को भर देता है, जिससे वह सहजतया अविलम्ब ऐश्वर्य को पा लेता है और जगत् में उसकी प्रतीक्षा करनेवाले आनन्दप्रदायक सुखों की अनुभूति में भी कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता है। उसकी दृष्टि से यह जगत् परिवर्तन की दृष्टि से ही मिथ्या है।

मन्त्रों में शक्ति:--

तन्त्रों का मुख्य विषय मन्त्रों की शक्ति है। तन्त्रविदों के मत में मन्त्र नियत तथा वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थापित सूत्र हैं जिन्हें यदि तान्त्रिक नियमों के अनुसार अभ्यास में लाया जाय तो उनसे मन्त्रोच्चारक के अभीष्ट को सम्पादित करनेवाले निश्चित परिणामों की प्राप्ति होती है। प्रत्येक मातृका, (अ, आ, इत्यादि) स्वयं में एक जीवित शक्ति है और इसके एक भी वर्ण का गलत प्रयोग नहीं होना चाहिए। साधक वर्णों को एक निश्चित प्रणाली के क्रम में रख कर एक जीवित शक्ति की रचना बना सकता है।

मन्त्र और कुछ नहीं बल्कि निःसन्देह अनुकूल जीवित, शक्तिशाली शक्तियाँ हैं, जिनमें मन्त्रों का उपासक अत्यन्त कठिन कार्यों को भी पूर्ण कर लेता है। इतना ही नहीं, एक वैज्ञानिक प्रक्रिया में वर्णों का क्रमानुसार व्यवस्थापन जीवन के लिए अत्यधिक सहायक होता है जिससे वह प्रकृति के प्रच्छन्न रहस्यों को माप लेता है, आश्चर्यजनक कार्य करता है तथा अपने को जागतिक प्रपञ्च से मुक्त कर

लेता है तथा परमपद नाम से सर्वोच्च ज्ञान के उच्च स्थान तक ऊपर उठ जाता है। किन्तु तान्त्रिक प्रक्रिया के दौरान किसी प्रकार की और किसी के द्वारा कोई भूल नहीं होनी चाहिए।

तन्त्रों का सबको स्वीकार करने की प्रकृति :—

तन्त्रों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इन्हें सब साधारण समझ सकते हैं तथा स्वीकार कर सकते हैं। जाति और धर्म पर ध्यान दिये बिना तन्त्र का द्वार सभी के लिए खुला है। अस्पृश्यता की बात यहाँ अज्ञात है। अमृत का मधुर प्याला जिसके हाथों में है, उसका आनन्द ऊँच-नीच दोनों ले सकते हैं। तन्त्र के भक्तों के लिए वैदिकों की तरह से कोई कठिन नियम या विधान नहीं है, न ही तन्त्र में कोई अत्यन्त अपरिवर्तनीय कठोर नियम है। तन्त्र की स्वयं संस्कृति के छोटे तथा आसान तरीकों का अनुकरण करके कलियुग के अल्पजीवी तथा दुर्बल जीव अल्प समय में ही वह सब प्राप्त कर लेते हैं जिन्हें दूसरे लोग कई युगों में प्राप्त कर पाते थे। यही कारण है कि तन्त्र प्रसिद्ध है तथा उसके अनुयायी अधिक हैं।

तान्त्रिक पद्धतियों को ग्रहण करने में कठिनाइयाँ :—

कोई भी गुलाब कंटकविहीन नहीं होता है। अच्छाई और बुराई साथ-साथ चलते हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें अच्छाई अथवा बुराई मिली हुई न हो। तन्त्र का फूलों से भरा मार्ग बिखरे हुए काँटों से आक्रान्त है। अतः साधक का पहला कर्तव्य यह है कि वह काँटों से बचे और फूलों के उस मार्ग पर टिका रहे जिससे कि वह विध्वंसक तथा मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाली प्रकृति की निम्न आत्माओं के बहकावे में न आ जाय और अपने अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में प्रगति से वञ्चित हो जाय। यह केवल मन्त्रों का सामर्थ्य है जो इन जीवों को वश में रखता है।

किन्तु, दुर्भाग्यवश तन्त्र की रीतियों में प्रथम पदार्पण करने वाला प्रायः ही इन निम्न आत्माओं से साहचर्य स्थापित कर लेता है और दुःखद अन्त को प्राप्त करता है। जिस उच्च आदर्श का उसे दृढतापूर्वक बिना किसी गलती के अनुकरण करना चाहिए, उससे वह अलग हो जाता है। सच्चा तन्त्रवेत्ता अशुद्ध विद्या के किसी क्षेत्र में कभी भी प्रशंसा नहीं करता है। उच्चकोटि के तन्त्रवेत्ता इस प्रकार के प्रयोग की किसी क्षेत्र में कभी भी प्रशंसा नहीं करता है। उच्चकोटि के तन्त्रवेत्ता का मुख्य उद्देश्य सदैव तत्त्व का अनुभव प्राप्त करना है। इसे प्राप्त करने के लिए वे अपना जीवन न्यौछावर कर देते हैं तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

मालिनी :—

तन्त्रालोक के अपने भाष्य में जयरथ कहते हैं कि शैव तन्त्रवाद की सभी भाषाओं में श्रेष्ठ होने तथा उनमें प्रसिद्ध स्थान रखने के कारण इसे 'मालिनी-विजयोत्तर' कहा जाता है। 'माला' से भी 'मालिनी' की जानकारी होती है इसीलिए वर्णमाला के लिए मालिनी एक साधारण संज्ञा है।

संस्कृत वर्णमाला का प्राकृतिक तथा ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से वैज्ञानिक क्रम को 'पूर्वमालिनी' संज्ञा से अभिहित किया गया है जिसे ज्यादातर 'मातृका' अथवा 'सिद्धा' के रूप में जाना जाता है। दूसरी ओर जब वर्ण-माला सम्बन्धी उत्पत्ति पर और इसके प्राकृतिक क्रम पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। इसलिए जब स्वरों तथा व्यञ्जनों को मिश्रित रूप में लिया जाता है तब उस वर्णमाला को 'उत्तरमालिनी' कहा जाता है इससे मुख्यतया वह क्रम द्योतित होता है जिसमें पहला वर्ण 'न' है तथा अन्तिम वर्ण 'फ'।

जिस प्रकार से स्वच्छन्द पूर्वमालिनी के उसी प्रकार से गुप्त प्रयोगों के लिए उत्तर-मालिनी के विनियोग के विभिन्न पद्धतियों को मालिनीविजयोत्तर ने अपने लिए सुरक्षित कर रखा हैं। स्वच्छन्द के काल में या तो वर्णों का 'न' से 'फ' तक का क्रम अज्ञात था अथवा कम प्रशंसित था इसीलिए कम प्रचलित हुआ अथवा स्वच्छन्द के अनुयायियों ने मालिनीमत में विश्वास नहीं किया, क्षेमराज ने निःसन्देह त्रिक के परिप्रेक्ष्य में स्वच्छन्द पर दृष्टिपात किया है किन्तु फिर भी स्वच्छन्द के ग्रन्थ में मालिनी अर्थात् उत्तरमालिनी का कोई सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता है।

'उत्तरमालिनी' में संस्कृत वर्णमाला का जो क्रम दिया गया है, वह इस प्रकार है—न ऋ ॠ ऌ ॡ थ च ध ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ इ अ व भ य ड ढ ठ झ ञ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष म श अं त ए ऐ ओ औ द फ।

अभ्यास करने वालों के शरीर में दैवी जीवन का प्रवेश कराने में मालिनी की सर्वाधिक उपयोगिता है तथा जिसमें न्यास से सम्बद्ध विशिष्ट ब्यौरों तथा निर्देशों पर सूक्ष्मरूप से मनन नहीं किया जा सकता, ऐसे प्रत्येक कार्य में अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तन्त्रविदों को इसका आश्रय लेने का निर्देश दिया गया है। मानव शरीर के विभिन्न अवयव मालिनी के विभिन्न वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर, अपर और परापर नामक तीन प्रकार के मन्त्रों को देते समय सिर, नेत्र आदि विशेष संज्ञाओं से किस प्रकार विशिष्ट मन्त्र की प्राप्ति की जा सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थरत्न विद्वज्जनों के समक्ष रखते हुए हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। भगवान् परमशिव हम लोगों का कल्याण करें।

कृष्णानन्दसागरः

ॐ सच्चिदानन्दाय नमः

अभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितं

मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

अथ प्रथमोऽधिकारः

जयन्ति जगदानन्दविपक्षक्षपणक्षमाः ।
परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचयः ॥१॥
जगदर्णवमग्ननां तारकं तारकान्तकम् ।
सनत्कुमारसनकसनातनसनन्दनाः ॥२॥
नारदागस्त्यसंवर्तवसिष्ठाद्या महर्षयः ।
जिज्ञासवः परं तत्त्वं शिवशक्त्युन्मुखीकृताः ॥३॥
समभ्यर्च्य विधानेन ते तमूचुः प्रहर्षिताः ।
भगवन्योगसंसिद्धिकाङ्क्षिणो वयमागताः ॥४॥
सा च योगं विना यस्मान्न भवेत्तमतो वद ।
ऋषिभिर्योगमिच्छद्भिः स तैरेवमुदाहृत ॥५॥
प्रत्युवाच प्रहृष्टात्मा नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
शृणुध्वं संप्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिफलप्रदम् ॥६॥
मालिनीविजयं तन्त्रं परमेशमुखोद्गतम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारमुमेशममरार्चितम् ॥७॥
स्वस्थानस्थमुमा देवी प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रं नवकोटिप्रविस्तरम् ॥८॥
यत्त्वया कथितं पूर्वं भेदत्रयविसर्पितम् ।
मालिनीविजये तन्त्रे कोटित्रितयलक्षिते ॥९॥

योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर ।
भूयस्तस्योपसंहारः प्रोक्तो द्वादशभिस्तथा ॥१०॥
सहस्रैः सोऽपि विस्तीर्णो गृह्यते नाल्पबुद्धिभिः ।
अतस्तमुपसंहृत्य समासादल्पधीहितम् ॥११॥
सर्वसिद्धिकरं ब्रूहि प्रसादात्परमेश्वर ।
एवमुक्तस्तदा देव्या प्रहस्योवाच विश्वराट् ॥१२॥
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ॥१३॥
मयात्येतत्पुरा प्राप्तमघोरात्परमात्मनः ।
उपादेयं च हेयं च विज्ञेयं परमार्थतः ॥१४॥
शिवः शक्ति सविद्येशा मन्त्रा मन्त्रेश्वराणवः ।
उपादेयमिति प्रोक्तमेतत्षट्कं फलार्थिनाम् ॥१५॥
मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत् ।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तु निश्चितम् ॥१६॥
एतज्ज्ञात्वा परित्यज्य सर्वसिद्धिफलं लभेत् ।
तत्रेशः सर्वकृच्छान्तः सर्वज्ञः सर्वकृत्प्रभु ॥१७॥
सकलो निष्कलोऽनन्तः शक्तिरप्यस्य तद्विधा ।
स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ॥१८॥
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ।
अघोरः परमो घोरो घोररूपस्तदाननः ॥१९॥
भीमश्च भीषणश्चैव वमनः पिबनस्तथा ।
एतानष्टौ स्थितिध्वंसरक्षानुग्रहकारिणः ॥२०॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशत्वे संनियोज्य ततः पुनः ।
मन्त्राणामसृजत्तद्वत्सप्त कोटीः समण्डलाः ॥२१॥
सर्वेऽप्येते महात्मानो मन्त्राः सर्वफलप्रदाः ।
आत्मा चतुर्विधो ज्ञेयस्तत्र विज्ञानकेवलः ॥२२॥

मलैकयुक्तस्तत्कर्मयुक्तः प्रलयकेवलः ।
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥२३॥
धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।
ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ॥२४॥
भोगसाधनसंसिद्धचै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥२५॥
सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः ।
अनाद्यन्ताशिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥२६॥
असूत सा कलातत्वं यद्योगादभवत्पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो विद्यरागौ ततोऽसृजत् ॥२७॥
विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।
रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ॥२८॥
नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।
कालोऽपि कलयत्येनं तुटचादिभिरवस्थितः ॥२९॥
तत एव कलातत्वादव्यक्तमसृजत्ततः ।
गुणानष्टगुणां तेभ्यो धियं धीतोऽप्यहङ्कृतम् ॥३०॥
तत्त्रिधा तैजसात्तस्मात्मनोऽक्षेशमजायत ।
वैकारिकात्ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात् ॥३१॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं बुद्धीन्द्रियाणि तु ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपायूपस्थाङ्घ्रयः क्रमात् ॥३२॥
कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत्संसारमण्डलम् ।
समुद्रादि जगत्कृत्स्नं परिवर्तयतीच्छया ॥३३॥
भेदः परः कलादीनां भुवनत्वेन यः स्थितः ।
असृजत्तमसावेव भोगिनां भोगसिद्धये ॥३४॥
इत्यनेन कलाद्येन धरान्तेन समास्थिताः ।
पुमांसः सकला ज्ञेयास्तदवस्थाजिघांसुभिः ॥३५॥

अकलत्रितयेऽप्यस्मिंस्तिरोभावनशीलया ।
शिवशक्त्योभयाक्रान्ताः प्रकुर्वन्ति विचेष्टितम् ॥३६॥
एवं जगति सर्वत्र रुद्राणां योग्यतावशात् ।
अङ्गुष्ठमात्रपूर्वाणां शतमष्टादशोत्तरम् ॥३७॥
अनुगृह्य शिवः साक्षान्मन्त्रेशत्वे नियुक्तवान् ।
ते स्वगोचरमासाद्य भुक्तिमुक्तिफलार्थिनाम् ॥३८॥
ब्रह्मादीनां प्रयच्छन्ति स्वबलेन समं फलम् ।
ऋषिभ्यस्तेऽपि ते चानु मन्वन्तेभ्यो महाधिपा ॥३९॥
हेयोपादेयविज्ञानं कथयन्ति शिवोदितम् ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यलम् ॥४०॥
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ।
अनुगृह्याणुसंघातं याताः पदमनामयम् ॥४१॥
एवमस्यात्मनः काले कस्मिंश्चिद्योग्यतावशात् ।
शैवी संबध्यते शक्तिः शान्ता मुक्तिफलप्रदा ॥४२॥
तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते ।
अज्ञानेन सहैकत्वं कस्यचिद्विनिवर्तते ॥४३॥
रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥४४॥
तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शाङ्करीम् ।
तत्क्षणाद्वोपभोगाद्वा देहपाताच्छिवं व्रजेत् ॥४५॥
योगदीक्षां समासाद्य ज्ञात्वा योगं समभ्यसेत् ।
योगसिद्धिमवाप्नोति तदन्ते शाश्वतं पदम् ॥४६॥
अनेन क्रमयोगेन संप्राप्तः परमं पदम् ।
न भूयः पशुतामेति शुद्धे स्वात्मनि तिष्ठति ॥४७॥
आत्मा चतुर्विधो ह्येष पुनरेष चतुर्विधः ।
आचार्यत्वादिभेदेन शुद्धात्मा परिपठ्यते ॥४८॥

नित्यादित्रितयं कुर्याद्गुरुः साधक एव च।
नित्यमेव द्वयं चान्यो यावज्जीवं शिवाज्ञया ॥४९॥
उपादेयं च हेयं च तदेतत्परिकीर्तितम्।
ज्ञात्वैतज्ज्ञेयसर्वस्वं सर्वसिद्धचरहो भवेत् ॥५०॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे प्रथमोऽतिन्त्रे धकारः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽधिकारः

अथैषामेव तत्त्वानां धरादीनामनुक्रमात् ।
प्रपञ्चः कथ्यते लेशाद्योगिनां योगसिद्धये ॥१॥
शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥२॥
शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः ।
तच्छक्तयश्च विज्ञेयास्तद्वदेव विचक्षणैः ॥३॥
एवं जलादिमूलान्तं तत्त्वव्रातमिदं महत् ।
पृथग्भेदैरिमैर्भिन्नं विज्ञेयं तत्फलेप्सुभिः ॥४॥
अनेनैव विधानेन पुंस्तत्त्वात्तु कलान्तिकम् ।
त्रयोदशविधं ज्ञेयं रुद्रवत्प्रलयाकलाः ॥५॥
तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः ।
मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मन्त्रनायकाः ॥६॥
त्रिधा मन्त्रेश्वरेशानाः शिवः साक्षन्न भिद्यते ।
भेदः प्रकथितो लेशादनन्तो विस्तरादयम् ॥७॥
एवं भुवनमालापि भिन्ना भेदैरिमैः स्फुटम् ।
विज्ञेया योगसिद्ध्यर्थं योगिभिर्योगपूजिता ॥८॥
एतेषामेव तत्त्वानां भुवनानां च शाङ्करि ।
य एकमपि जानाति सोऽपि योगफलं लभेत् ॥९॥
यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥१०॥
स्पृष्टाः संभाषितास्तेन दृष्टाश्च प्रीतचेतसा ।
नरा पापैः प्रमुच्यन्ते सप्तजन्मकृतैरति ॥११॥

ये पुनर्दीक्षितास्तेन प्राणिनः शिवचोदिताः ।
ते यथेष्टं फलं प्राप्य पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥१२॥
रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः ।
सति तस्मिंश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत् ॥१३॥
तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला ।
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात्सद्यः प्रत्ययकारिका ॥१४॥
सर्वसत्त्ववशित्वं च तृतीयं लक्षणं स्मृतम् ।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम् ॥१५॥
कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयं सालङ्कारं मनोहरम् ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ॥१६॥
रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा परिपठ्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥१७॥
पञ्चधा भूतसंज्ञस्तु तथा त्रिंशतिधा परः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधा मन्त्रसंज्ञकः ॥१८॥
द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ॥१९॥
आणवोऽयं समाख्यातः शाक्तोऽप्येवंविधः स्मृतः ।
एवं शाम्भवमप्येभिर्भेदैर्भिन्नं विलक्षयेत ॥२०॥
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥२१॥
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयत ॥२२॥
अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥२३॥
सार्धमेतच्छतं प्रोक्तं भेदानामनुपूर्वशः ।
संक्षेपाद्विस्तरादस्य परिसंख्या न विद्यते ॥२४॥

संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः।
भेदोऽपरोऽपि संक्षेपात्कथ्यमानोऽवधार्यताम् ॥२५॥
जाग्रत्स्वप्नादिभेदेन सर्वावेशक्रमो बुधैः।
पञ्चभिस्तु परिज्ञेयः स्वव्यापारात्पृथक् पृथक् ॥२६॥
तत्र स्वरूपं शक्तिश्च सकलश्चेति तत्त्रयम्।
इति जाग्रदवस्थेयं भेदे पञ्चदशात्मके ॥२७॥
अकलौ द्वौ परिज्ञेयौ तुर्यातीते वरानने।
मन्त्रादितत्पतीशानवर्गस्तुर्य इति स्मृतः ॥२८॥
शक्तिशंभू परिज्ञेयौ तुर्यातीते वरानने।
त्रयोदशात्मके भेदे स्वरूपसकलावुभौ ॥२९॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तिशंभू च कीर्तितौ।
प्रलयाकलभेदेऽपि स्वं विज्ञानकलावुभौ ॥३०॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तिशावपि पूर्ववत्।
नवधा कीर्तिते भेदे स्वं मन्त्राः मन्त्रनायकाः ॥३१॥
तदीशाः शक्तिशंभू च पञ्चावस्थाः प्रकीर्तिताः।
पूर्ववत्सप्तभेदेऽपि स्वं मन्त्रेशेशशक्तयः ॥३२॥
शिवश्चेति परिज्ञेयाः पञ्चैव वरवर्णिनि।
स्वं शक्तिः स्वनिजेशाना शक्तिशंभू च पञ्चके ॥३३॥
त्रिके स्वं शक्तिशक्तोच्छाशिवभेदं विलक्षयेत्।
सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः ॥३४॥
इच्छानिवृतेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि पञ्चधा।
इति पञ्चात्मके भेदे विज्ञेयं वस्तु कीर्तितम् ॥३५॥
भूयोऽप्यासामवस्थानां संज्ञाभेदः प्रकाश्यते।
पिण्डस्थः सर्वतोभद्रो जाग्रन्नाम द्वयं मतम् ॥३६॥
द्विसंज्ञं स्वप्नमिच्छन्ति पदस्थं व्याप्तिरित्यपि।
रूपस्थं तु महाव्याप्तिः सुषुप्तस्यापि तद्द्वयम् ॥३७॥

प्रचयं रूपातीतं च सम्यक् तुर्यमुदाहृतम् ।
महाप्रचयमिच्छन्ति तुर्यातीतं विचक्षणाः ॥३८॥
पृथक्तत्त्वप्रभेदेन भेदोऽयं समुदाहृतः ।
सर्वाण्येव हि तत्त्वानि पञ्चैतानि यथा शृणु ॥३९॥
भूततत्त्वाभिधानानां योगोऽधिष्ठेय इष्यते ।
पिण्डस्थमिति तं प्राहुः पदस्थमपरं विदुः ॥४०॥
मन्त्रास्तत्पतयः सेशा रूपस्थमिति कीर्त्यते ।
रूपातीतं परा शक्तिः सव्यापाराप्यनामया ॥४१॥
निष्प्रपञ्चो निराभासः शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः ।
सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते ॥४२॥
चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च ।
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च पदस्थ च चतुर्विधम् ॥४३॥
गतागतं सुविक्षिप्तं संगतं सुसमाहितम् ।
चतुर्धा रूपसंज्ञं तु ज्ञातव्य योगचिन्तकैः ॥४४॥
उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमथापरम् ।
मनोन्मनमनन्तं च सर्वार्थं सततोदितम् ॥४५॥
प्रचये तत्र संज्ञेयमेकं तन्महसि स्थितम् ।
इत्येवं पञ्चधाध्वानं त्रिधेदानीं निगद्यते ॥४६॥
विज्ञानाकलपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम् ।
ईश्वरान्तं च विद्याह्वं शेषं शिवपदं विदुः ॥४७॥
एवं भेदैरिमैर्भिन्नस्तत्राध्वा परिकीर्तितः ।
युगपत्सर्वमार्गाणां प्रभेदः प्रोच्यतेऽधुना ॥४८॥
पार्थिवं प्राकृतं चैव मायीयं शाक्तमेव च ।
इति संक्षेपतः प्रोक्तमेतदण्डचतुष्टयम् ॥४९॥
पृथग्द्वयमसंख्यातमेकमेकं पृथक् पृथक् ।
आद्यं धारिकया व्याप्तं तत्रैकं तत्त्वमिष्यते ॥५०॥

एकमेकं पृथक् क्षार्णं पदार्णमनुषु स्मरेत् ।
कालाग्निभुवनाद्यावद्वीरभद्रपुरोत्तमम् ॥५१॥
पुरषोडशकं ज्ञेयं षड्विधोऽध्वा प्रकीर्तितः ।
आप्यायिन्या द्वितीयं च तत्र तत्त्वानि लक्षयेत् ॥५२॥
त्रयोविंशत्यबादीनि तद्वद्वाद्यक्षराणि च ।
पदानि पञ्च मन्त्राश्च षट्पञ्चाशत्पुराणि च ॥५३॥
तत्त्वानि सप्त बोधिन्या तच्चतुर्धा पुराणि च ।
तृतीये सप्त वर्णाः स्युः पदमन्त्रद्वयं द्वयम् ॥५४॥
उत्पूयिन्या चतुर्थं तु तत्र तत्त्वत्रयं विदुः ।
वर्णत्रयं मन्त्रमेकं पदमेकं च लक्षयेत् ॥५५॥
अष्टादश विजानीयाद्भुवनानि समासतः ।
शिवतत्त्वं परं शान्तं कला तत्रावकाशदा ॥५६॥
स्वरषोडशकं मन्त्रं पदं चैकं विलक्षयेत् ।
इत्येवं षड्विधोऽप्यध्वा समासात्परिकीर्तितः ॥५७॥
शुद्धाशुद्धं जगत्सर्वं ब्रह्माण्डप्रभवं यतः ।
तस्माच्छुद्धमिमैः शुद्धैर्ब्रह्माण्डैः सर्वमिष्यते ॥५८॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्चेति सुव्रते ।
पृथगेतेषु बोद्धव्यं शान्तं पतिचतुष्टयम् ॥५९॥
यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते ।
एतत्ते कथितं सर्वं किमन्यत्परिपृच्छसि ॥६०॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे व्याप्त्यधिकारो द्वितीयः ॥२॥

अथ तृतीयोऽधिकारः

एवमुक्ता महादेवी जगदानन्दकारिणा ।
प्रणिपत्य पुनर्वाक्यमिदमाह जगत्पतिम् ॥१॥
एवमेतन्महादेव नान्यथा समुदाहृतम् ।
यथाख्यातं तथा ज्ञातमादितः समनुक्रमात् ॥२॥
शिवादिवस्तुरूपाणां वाचकान्परमेश्वर ।
सांप्रतं श्रोतुमिच्छामि प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥३॥
इत्युक्तः स महेशान्या जगदार्तिहरो हरः ।
वाचकानवदन्मन्त्रान्पारम्पर्यक्रमागतान् ॥४॥
या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥५॥
सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥६॥
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ॥७॥
जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ।
एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम् ॥८॥
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।
तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ॥९॥
द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ।
बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद्द्विधा बीजं स्वरा मताः ॥१०॥
कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः ।
प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला ॥११॥

बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ।
वाचकत्वेन सर्वापि शंभो शक्तिश्च शस्यते ॥१२॥
वर्गाष्टकमिह ज्ञेयमघोराद्यमनुक्रमात् ।
तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम् ॥१३॥
माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मताः ॥१४॥
शतार्धभेदभिन्नानां तत्संख्यानं वरानने ।
रुद्राणां वाचकत्वेन कल्पिताः परमेष्ठिना ॥१५॥
तद्वदेव च शक्तिनां तत्संख्यानमनुक्रमात् ।
सर्वं च कथयिष्यामि तासां भेदं यथा शृणु ॥१६॥
अमृतोऽमृतपूर्णश्च अमृताभोऽमृतद्रवः ।
अमृतौघोऽमृतोर्मिश्च अमृतस्यन्दनोऽपरः ॥१७॥
अमृताङ्गोऽमृतवपुरमृतोद्गार एव च ।
अमृतास्योऽमृततनुस्तथा चामृतसेचनः ॥१८॥
तन्मूर्तिरमृतेशश्च सर्वामृतधरोऽपरः ।
षोडशैते समाख्याता रुद्रबीजसमुद्भवाः ॥१९॥
जयश्च विजयश्चैव जयन्तश्चापराजितः ।
सुजयो जयरुद्रश्च जयकीर्तिर्जयावहः ॥२०॥
जयमूर्तिर्जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः ।
बलश्चातिबलश्चैव बलभद्रो बलप्रदः ॥२१॥
बलावतश्च बलवान् बलदाता बलेश्वरः ।
नन्दनः सर्वतोभद्रो भद्रमूर्तिः शिवप्रदः ॥२२॥
सुमनाः स्पृहणो दुर्गो भद्रकालो मनोनुगः ।
कौशिकः कालविश्वेशौ सुशिवः कोप एव च ॥२३॥
एते योनिसमुद्भूताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकीर्तिताः ।
स्त्रीपाठवशमापन्ना एत एवात्र शक्तयः ॥२४॥

बीजयोनिसमुद्भूता रुद्रशक्तिसमाश्रयाः ।
वाचकानामनन्तत्वात्परिसंख्या न विद्यते ॥२५॥
सर्वशास्त्रार्थगर्भिण्या इत्येवंविधयानया ।
अघोरं बोधयामास स्वेच्छया परमेश्वरः ॥२६॥
स तया संप्रबुद्धः सन्योनिं विक्षोभ्य शक्तिभिः ।
तत्समानश्रुतीन्वर्णांस्तत्संख्यानसृजत्प्रभुः ॥२७॥
ते तैरालिङ्गिताः सन्तः सर्वकामफलप्रदाः ।
भवन्ति साधकेन्द्राणां नान्यथा वीरवन्दिते ॥२८॥
तैरिदं संततं विश्वं सदेवासुरमानुषम् ।
तेभ्यः शास्त्राणि वेदाश्च संभवन्ति पुनः पुनः ॥२९॥
अनन्तस्यापि भेदस्य शिवशक्तेर्महात्मनः ।
कार्यभेदान्महादेवि त्रैविध्यं समुदाहृतम् ॥३०॥
विषयेष्येव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून्याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥३१॥
मिश्रकर्मफलासक्ति पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥३२॥
पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥३३॥
एताः सर्वाणुसंघातमपि निष्ठा [धिष्ठाय] यथा स्थिताः ।
तथा ते कथिताः शंभोः शक्तिरेकैव शाङ्करी ॥३४॥
अस्या वाचकभेदेन भेदोऽन्यः संप्रचक्ष्यते ।
यथेष्टफलसंसिद्ध्यै मन्त्रातन्त्रानुवर्तिनाम् ॥३५॥
विशेषविधिहीनेषु न्यासकर्मसु मन्त्रवित् ।
न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम् ॥३६॥
न शिखा ऋऋॄ लृॢ च शिरोमाला थ मस्तकम् ।
नेत्राणि च ध वै नासा ई समुद्रे णुणू श्रुती ॥३७॥

बकवर्गइआ वक्रदन्तजिह्वासु वाचि च।
वभयाः कण्ठदक्षादिस्कन्धयोर्भुजयोर्डढौ ॥३८॥
ठो हस्तयोर्झञौ शाखा ञ्रटौ शूलकपालके।
पहृच्छलौ स्तनौ क्षीरमा स जीवो विसर्गयुक् ॥३९॥
तत्परः कथितः प्राणः षक्षावुदरनाभिगौ।
मशंताः कटिगुह्योरुयुग्मगा जानुनी तथा ॥४०॥
एऐकारौ तथा जङ्घे तत्परौ चरणौ दफौ।
अतो विद्याश्च मन्त्राश्च समुद्धार्या यथा शृणु ॥४१॥
सबिन्दुकां दक्षजङ्घां ततो वाचं प्रकल्पयेत्।
तथैव जङ्घया युक्तं चतुर्थं दशनं ततः ॥४२॥
दक्षजानुयुतं दण्डं प्राणं दण्डस्यमीर्युतम्।
पथग् घृद्दण्डकटिगा द्विजदण्डौ च पूर्ववत् ॥४३॥
उत्थितं बिन्दुयुक्प्राणं पूर्ववद्दशनं ततः।
दण्डं केवलमुद्धृत्य वाममुद्राण्वितं पुनः ॥४४॥
दक्षजानुयुतं हृच्च प्राणं जीवात्मना युतम्।
दशनं पूर्ववन्न्यस्य दण्डं केवलमेव च ॥४५॥
नितम्बं दक्षमुद्रेतं द्वितीयं जिह्वया द्विजम्।
सनासं दक्षशिखरं नितम्बं केवलं ततः ॥४६॥
पुनस्तथैव शिखरं जठरं केवलं ततः।
दक्षजानुयुतं कर्णं कण्ठं केवलमेव च ॥४७॥
नितम्बं केवलं न्यस्य हृदयं जिह्वया युतम्।
वक्त्रं केवलमुद्धृत्य प्राणमाद्येन जानुना ॥४८॥
शूलदण्डचतुष्कं च तत्राद्यं द्वयसंस्थि[मुत्थि]तम्।
वामपादं च तस्यान्ते कपालं पतितं न्यसेत् ॥४९॥
ततः परमघोरान्तं पाद्यकाद्ये च पूर्ववत्।
परापरा समाख्याता अपरा च प्रकथ्यते ॥५०॥

अघोरान्तं न्यसेदादौ प्राणं बिन्दुयुतं पुनः।
वाममुद्रान्वितं न्यस्य पाद्यं काद्येन पूर्ववत् ॥५१॥
अपरेयं समाख्याता रुद्रशक्ति परां शृणु।
मन्त्राः संमुखतां यान्ति ययोच्चारितमात्रया ॥५२॥
कम्पते गात्रयष्टिश्च द्रुतं चोत्पतनं भवेत्।
मुद्राबन्धं च गेयं च शिवारुदितमेव च ॥५३॥
अतीतानागतार्थस्य कुर्याद्वा कथनादिकम्।
वामजङ्घान्वितो जीवः पारम्पर्यक्रमागतः ॥५४॥
परेयमनया सिद्धिः सर्वकामफलप्रदा।
नाशिष्यायं प्रदेयेयं नाभक्ताय कदाचन ॥५५॥
रुद्रश्च रुद्रशक्तिश्च गुरुश्चेति त्रयं समम्।
भक्त्या प्रपश्यते यस्तु तस्मै देया वरानने ॥५६॥
शिष्येणापि तदा ग्राह्या यदा संतोषितो गुरुः।
शरीरद्रव्यविज्ञानशुद्धिकर्मगुणादिभिः ॥५७॥
बोधिता तु यदा तेन गुरुणा हृष्टचेतसा।
तदा सिद्धिप्रदा ज्ञेया नान्यथा वीरवन्दिते ॥५८॥
परापराङ्गसंभूता योगिन्योऽष्टौ महाबलाः।
पञ्च षट् पञ्च चत्वारि द्वित्रिद्यवर्णाः क्रमेण तु ॥५९॥
ज्ञेयाः सप्तैकादशार्णा एकार्धार्णद्वयान्विताः।
जीवो दीर्घस्वरैः षड्भिः पृथग्जातिसमन्वितः ॥६०॥
विद्यात्रयस्य गात्राणि ह्रस्वैर्वक्त्राणि पञ्चभिः।
ओंकारैः पञ्चभिर्मन्त्रो विद्याङ्गहृदयं भवेत् ॥६१॥
ओं अमृते तेजोमालिनि स्वाहापदानि [दवि] भूषितम्।
एकादशाक्षरं प्रोक्तमेतद्ब्रह्मशिरः प्रिये ॥६२॥
वेदवेदिनि हूँफट् च प्रणवादिसमन्विता।
रुद्राण्यष्टाक्षरा ज्ञेया शिखा विद्यागणस्य तु ॥६३॥

वज्रिणे वज्रधराय स्वाहान्तं प्रणवादिकम् ।
एकादशाक्षरं वर्म पुरुष्टुतमिति स्मृतम् ॥६४॥
श्लीपदं पशुशब्दं च हूंफडन्तं भवादिकम् ।
एतत्पाशुपतं प्रोक्तमर्धसप्ताक्षरं परम् ॥६५॥
लरटक्षवयैर्दीर्घैः सहयुक्तैः सबिन्दुकैः ।
इन्द्रादीन्कल्पयेद्ध्रस्वैस्तदस्त्राणि विचक्षणः ॥६६॥
तद्वन्नासापयोभ्यां तु कल्प्यौ विष्णुप्रजापती ।
स्वरावाद्यतृतीयौ तु वाचकौ पद्मचक्रयोः ॥६७॥
इति मातृगणः प्रोक्तः सर्वकामफलप्रदः ।
योगिनां योगसिद्ध्यर्थं किमन्यत्परिपृच्छसि ॥६८॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे मन्त्रोद्धाराधिकारस्तृतीयः ॥३॥

अथ चतुर्थोऽधिकारः

अथैतदुपसंश्रुत्य मुनयो मुदितेक्षणाः ।
प्रणम्य क्रौञ्चहन्तारं पुनरूचुरिदं वचः ॥१॥
योगमार्गविधिं देव्या पृष्टेन परमेष्ठिना ।
तत्प्रतिज्ञावताप्युक्तं किमर्थं मन्त्रलक्षणम् ॥२॥
एवमुक्तः स तैः सम्यक्कार्तिकेयो महामतिः ।
इदमाह वचस्तेषां संदेहविनिवृत्तये ॥३॥
योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।
यद्वस्तु ज्ञेयमित्युक्तं हेयत्वादिप्रसिद्धये ॥४॥
द्विरूपमपि तज्ज्ञानं विना ज्ञातुं न शक्यते ।
तत्प्रसिद्ध्यै शिवेनोक्तं ज्ञानं यदुपवर्णितम् ॥५॥
सबीजयोगसंसिद्ध्यै मन्त्रलक्षणमप्यलम् ।
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ॥६॥
क्रियाज्ञानविभेदेन सा च द्वेधा निगद्यते ।
द्विविधा सा प्रकर्तव्या तेन चैतदुदाहृतम् ॥७॥
न च योगाधिकारित्वमेकमेवानया भवेत् ।
अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया ॥८॥
श्रुत्वा चैतत्पतेर्वाक्यं रोमाञ्चितशरीरिणी ।
इदमाह पुनर्वाक्यमम्बा मुनिवरोत्तमाः ॥९॥
अभिन्नमालिनीकाये तत्त्वानि भुवनानि च ।
कलाः पदानि मन्त्राश्च यथावदवधारिताः ॥१०॥
भिन्नयोनिस्तु या देव त्वयोक्ता मालिनी मम ।
तस्या अङ्गे यथैतानि संस्थितानि तथा वद ॥११॥

एवमुक्तो महादेव्या भैरवो भूरिभोगदः ।
स्फुरद्धिमांशुसंतानप्रकाशितदिगन्तरः ॥१२॥
सुरासुरशिरोमौलिमालाललितशासनः ।
उवाच मधुरां वाचमिमामक्लेशिताशयाम् ॥१३॥
या मया कथिता देवि भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
तदङ्गे संप्रवक्ष्यामि सर्वमेतद्यथा स्थितम् ॥१४॥
फे धरातत्त्वमुद्दिष्टं दादिझान्तेऽनुपूर्वशः ।
त्रयोविंशत्यवादीनि प्रधानान्तानि लक्षयेत् ॥१५॥
ठादौ च सप्तके सप्त पुरुषादीनि पूर्ववत् ।
ङघेषु त्रयं विद्याद्विद्यातः सकलावधि ॥१६॥
शिवतत्त्वे गकारादिनान्तान् षोडश लक्षयत् ।
कलाः पदानि मन्त्राश्च भुवनानि च सुन्दरि ॥१७॥
पूर्ववद्वेदितव्यानि तत्संख्यार्णविभेदतः ।
विद्यात्रयविभागेन यथेदानीं तथा शृणु ॥१८॥
निष्कले पदमेकार्णं त्र्यर्णैकार्णमिति द्वयम् ।
सकले तु परिज्ञेयं पञ्चैकार्णद्वयं द्वये ॥१९॥
चतुरेकाक्षरे द्वे च मायादित्रितये मते ।
चतुरक्षरमेकं च कालादिद्वितये मतम् ॥२०॥
रञ्जके द्व्यर्णमुद्दिष्टं प्रधाने त्र्यर्णमिष्यते ।
बुद्धौ देवाष्टकव्याप्त्या पदं द्व्यक्षरमिष्यते ॥२१॥
ततः पञ्चाष्टकव्याप्त्या द्व्येकद्विद्व्यक्षराणि तु ।
विद्यापदानि चत्वारि सार्धवर्णं तु पञ्चमम् ॥२२॥
एकैकसार्धवर्णानि त्रीणि तत्त्वे तु पार्थिवे ।
पराङ्गे सर्वमन्यच्च वर्णमन्त्रकलादिकम् ॥२३॥
सार्धेनाण्डद्वयं व्याप्तमेकैकेन पृथग्द्वयम् ।
अपरायाः समाख्याता व्याप्तिरेषा विलोमतः ॥२४॥

सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते ॥२५॥
एतत्सर्वं परिज्ञेयं योगिना हितमिच्छता ।
आत्मनो वा परेषां वा नान्यथा तदवाप्यते ॥२६॥
द्वावेव मोक्षदौ ज्ञेयौ ज्ञानी योगी च शाङ्करि ।
पृथक्त्वात्तत्र··· बोद्धव्यं फलकाङ्क्षिभिः ॥२७॥
ज्ञानं तत्त्रिविधं प्रोक्तं तत्राद्यं श्रुतमिष्यते ।
चिन्तामयमथान्यच्च भावनामयमेव च ॥२८॥
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानं विक्षिप्तस्य श्रुतं मतम् ।
इदमत्रेदमत्रेति इदमत्रोपयुज्यते ॥२९॥
सर्वमालोच्य शास्त्रार्थमानुपूर्व्या व्यवस्थितम् ।
तद्वच्चिन्तामयं ज्ञानं द्विरूपमुपदिश्यते ॥३०॥
मन्दस्वभ्यस्तभेदेन तत्र स्वभ्यस्तमुच्यते ।
सुनिष्पन्ने ततस्तस्मिञ्जायते भावनामयम् ॥३१॥
यतो योगं समासाद्य योगी योगफलं लभेत् ।
एवं विज्ञानभेदेन ज्ञानी प्रोक्तश्चतुर्विधः ॥३२॥
संप्राप्तो घटमानश्च सिद्धः सिद्धतमोऽन्यथा ।
योगी चतुर्विधो देवि यथावत्प्रतिपद्यते ॥३३॥
समावेशोक्तिवद्योगस्त्रिविधः समुदाहृतः ।
तत्र प्राप्तोपदेशस्तु पारम्पर्यक्रमेण यः ॥३४॥
प्राप्तयोगः स विज्ञेयस्त्रिविधोऽपि मनीषिभिः ।
चेतसो घटनं तत्त्वाच्चलितस्य पुनः पुनः ॥३५॥
यः करोति तमिच्छन्ति घटमानं मनीषिणः ।
तदेव चेतसा नान्यद्वितीयमवलम्बते ॥३६॥
सिद्धयोगस्तदा ज्ञेयो योगी योगफलार्थिभिः ।
यः पुनर्यत्र तत्रैव संस्थितोऽपि यथा तथा ॥३७॥

भुञ्जानस्तत्फलं तेन हीयते न कथंचन।
सुसिद्धः स तु बोद्धव्यः सदाशिवसमः प्रिये ॥३८॥
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यमेतेषां समुदाहृतम्।
ज्ञानिनां योगिनां चैव सिद्धो योगविदुत्तमः ॥३९॥
यतोऽस्य ज्ञानमप्यस्ति पूर्वो योगफलोज्झितः।
यतश्च मोक्षदः प्रोक्तः स्वभ्यस्तज्ञानवान्बुधैः ॥४०॥
इत्येतत्कथितं सर्वं विज्ञेयं योगिपूजिते।
तन्त्रार्थमुपसंहृत्य समासाद्योगिनां हितम् ॥४१॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे चतुर्थोऽधिकारः ॥४॥

अथ पञ्चमोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि भुवनाध्वानमीश्वरि ।
आदौ कालाग्निभुवनं शोधितव्यं प्रयत्नतः ॥१॥
अवीचिः कुम्भीपाकश्च रौरवश्च तृतीयकः ।
कूष्माण्डभुवने शुद्धे सर्वे शुद्धा न संशयः ॥२॥
पातालानि ततः सप्त तेषामादौ महातलम् ।
रसातलं ततश्चान्यत्तलातलमतः परम् ॥३॥
सुतलं नितलं चेति वितलं तलमेव च ।
हाटकेन विशुद्धेन सर्वेषां शुद्धिरिष्यते ॥४॥
तदूर्ध्वं पृथिवी ज्ञेया सप्तद्वीपार्णवान्विता ।
देवानामाश्रयो मेरुस्तन्मध्ये संव्यवस्थितः ॥५॥
भुवोलोकस्तदूर्ध्वे च स्वर्लोकस्तस्य चोपरि ।
महो जनस्तपः सत्यमित्येतल्लोकसप्तकम् ॥६॥
चतुर्दशविधो यत्र भूतग्रामः प्रवर्तते ।
स्थावरः सर्पजातिश्च पक्षिजातिस्तथापरा ॥७॥
मृगसंज्ञश्च पश्वाख्यः पञ्चमोऽन्यश्च मानुषः ।
पैशाचो राक्षसो याक्षो गान्धर्वश्चैन्द्र एव च ॥८॥
सौम्यश्च प्राजापत्यश्च ब्राह्मश्चात्र चतुर्दश ।
सर्वस्यैवास्य संशुद्धिर्ब्राह्मे संशोधिते सति ॥९॥
भुवनं वैष्णवं तस्मान्मदीयं तदनन्तरम् ।
तत्र शुद्धे भवेच्छुद्धं सर्वमेतन्न संशयः ॥१०॥
कालाग्निपूर्वकैरेभिर्भुवनैः पञ्चभिः प्रिये ।
शुद्धैः सर्वमिदं शुद्धं ब्रह्माण्डान्तर्व्यवस्थितम् ॥११॥

तद्बहिः शतरुद्राणां भुवनानि पृथक् पृथक् ।
दश संशोधयेत्पश्चादेकं तन्नायकावृतम् ॥१२॥
अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथापरः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥१३॥
शीघ्रो निधीश्वरश्चैव सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शंभुश्च वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभः ॥१४॥
एभिर्दशैकसंख्यातैः शुद्धैः शुद्धं शतं मतम् ।
उपरिष्टात्पुरस्तेषामष्टकाः पञ्च संस्थिताः ॥१५॥
लकुली भारभूतिश्च दिण्ढयाषाढी सपुष्करौ ।
नैमिषं च प्रभासं च अमरेशमथाष्टकम् ॥१६॥
एतत्पत्यष्टकं प्रोक्तमतो गुह्यातिगुह्यकम् ।
तत्र भैरवकेदारमहाकालाः समध्यमाः ॥१७॥
आम्रातिकेशजल्पेशश्रीशैलाः सहरीन्दवः ।
भीमेश्वरमहेन्द्राट्टहासाः सविमलेश्वराः ॥१८॥
कनखलं नाखलं च कुरुक्षेत्रं गया तथा ।
गुह्यमेतत्तृतीयं तु पवित्रमधुनोच्यते ॥१९॥
स्थाणुस्वर्णाक्षकावाद्यौ भद्रगोकर्णकौ परौ ।
महाकालाविमुक्तेशरुद्रकोटचम्बरापदाः ॥२०॥
स्थूलः स्थूलेश्वरः शङ्कुकर्णकालञ्जरावपि ।
मण्डलेश्वरमाकोटद्विरण्डछगलाण्डकौ ॥२१॥
स्थाण्वष्टकमिति प्रोक्तमहंकारावधि स्थितम् ।
देवयोन्यष्टकं बुद्धौ कथ्यमानं मया शृणु ॥२२॥
पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं चैन्द्रमेव च ।
तथा सौम्यं सप्राजेशं ब्राह्ममष्टममिष्यते ॥२३॥
योगाष्टकं प्रधाने तु तत्रादावकृतं भवेत् ।
कृतं च वैभवं ब्राह्मं वैष्णवं तदनन्तरम् ॥२४॥

कौमारमौमं श्रीकण्ठमिति योगाष्टकं तथा ।
पुरुषे वामभीमोग्रभवेशानैकवीरकाः ॥२५॥
प्रचण्डोमाधवाजाश्च अनन्तैकशिवावथ ।
क्रोधेशचण्डौ विद्यायां संवर्तो ज्योतिरेव च ॥२६॥
कलातत्त्वे परिज्ञेयौ सुरपञ्चान्तकौ परे ।
एकवीरशिखण्डीशश्रीकण्ठाः कालमाश्रिताः ॥२७॥
महातेजः प्रभृतयो मण्डलेशानसंज्ञकाः ।
मायातत्त्वे स्थितास्तत्र वामदेवभवोद्भवौ ॥२८॥
एकपिङ्गेक्षणेशानभुवनेशपुरःसराः ।
अङ्गुष्ठमात्रसहिताः कालानलसमत्विषः ॥२९॥
विद्यातत्त्वेऽपि पञ्चाहुर्भुवनानि मनीषिणः ।
तत्र हालाहलः पूर्वो रुद्रः क्रोधस्तथापरः ॥३०॥
अम्बिका च अघोरा च वामदेवी च कीर्त्यते ।
ईश्वरे पिवनाद्याः स्युरघोरान्ता महेश्वराः ॥३१॥
रौद्री ज्येष्ठा च वामा च तथा शक्तिसदाशिवौ ।
एतानि सकले पञ्च भुवनानि विदुर्बुधाः ॥३२॥
एवं तु सर्वतत्त्वेषु शतमष्टादशोत्तरम् ।
भुवनानां परिज्ञेयं संक्षेपान्न तु विस्तरात् ॥३३॥
शुद्धेनानेन शुद्धयन्ति सर्वाण्यपि न संशयः ।
सर्वमार्गविशुद्धौ तु कर्तव्यायां महामतिः ॥३४॥
सकलावधि संशोध्य शिवे योगं प्रकल्पयेत् ।
बुभुक्षोः सकलं ध्यात्वा योगं कुर्वीत योगवित् ॥३५॥
इत्येष कीर्तितो मार्गो भुवनाख्यस्य मे मतः ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे भुवनाध्वाधिकारः पञ्चमः ॥५॥

अथ षष्ठोऽधिकारः

अथास्य वस्तुजातस्य यथा देहे व्यवस्थितिः।
क्रियते ज्ञानदीक्षासु तथेदानीं निगद्यते ॥१॥
पादाधः पञ्चभूतानि व्याप्त्या द्व्यङ्गुलया न्यसेत्।
धरातत्त्वं च गुल्फान्तमबादीनि ततः क्रमात् ॥२॥
तद्वत्तदुपरिष्टात्तु पर्वषट्कावसानकम्।
पुंस्तत्त्वात्कलातत्त्वान्तं तत्त्वषट्कं विचिन्तयेत् ॥३॥
ततो मायादितत्त्वानि चत्वारि सुसमाहितः।
चतुरङ्गुलया व्याप्त्या सकलान्तानि भावयेत् ॥४॥
शिवतत्त्वं ततः पश्चात्तेजोरूपमनाकुलम्।
सर्वेषां व्यापकत्वेन सबाह्याभ्यन्तरं स्मरेत् ॥५॥
षट्त्रिंशत्तत्त्वभेदेन न्यासोऽयं समुदाहृतः।
अधुना पञ्च तत्त्वानि यथा देहे तथोच्यते ॥६॥
नाभेरूर्ध्वं तु यावत्स्यात्पर्वषट्कमनुक्रमात्।
धरातत्त्वेन गुल्फान्तं व्याप्तं शेषमिहाम्बुना ॥७॥
द्वाविंशतिश्च पर्वाणि तदूर्ध्वं तेजसावृतम्।
तस्माद्द्वादश पर्वाणि वायुव्याप्तिरुदाहृता ॥८॥
आकाशान्तं परं शान्तं सर्वेषां व्यापकं स्मरेत्।
शक्त्यादिपञ्चखण्डाध्वविधिष्वप्येवमिष्यते ॥९॥
त्रिखण्डे कण्ठपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम्।
विद्यातत्त्वमतोर्ध्वं तु शिवतत्त्वं तु पूर्ववत् ॥१०॥
एवं तत्त्वविधिः प्रोक्तो भुवनाध्वा तथोच्यते।
कालाग्नेर्वीरभद्रान्त पुरषोडशकं ततः ॥११॥

गुल्फान्तं विन्यसेद्व्याप्त्वा यथावदनुपूर्वशः ।
तस्मादेकाङ्गुलव्याप्त्या लकुलीशादितः क्रमात् ॥१२॥
विन्यसेत्तु द्विरण्डान्तं त्र्यङ्गुलं छगलाण्डकम् ।
ततः पादाङ्गुलव्याप्त्या देवयोगाष्टकं पृथक् ॥१३॥
ततोऽप्यर्धाङ्गुलव्याप्त्या पुरषट्कमनुक्रमात् ।
चतुष्कं तु द्वयेऽन्यस्मिन्नेकमेकत्र चिन्तयन् ॥१४॥
उत्तराविक्रमाद्द्व्येकभेदो विद्यादिके त्रये ।
काले प्रत्येकमुद्दिष्टमेकैकं तु यथाक्रमम् ॥१५॥
मण्डलाधिपतीनां तु व्याप्तिरर्धाङ्गुला मता ।
त्रिभागन्यूनपर्वाख्या त्रितयस्य तथोपरि ॥१६॥
द्वितीयस्य तु संपूर्णा पञ्चकं समुदाहृतम् ।
अष्टकं पञ्चकं चान्यदेवमेव विलक्षयेत् ॥१७॥
भुवनाध्वविधावत्र पूर्ववच्चिन्तयेच्छिवम् ।
पदानि द्विविधान्यत्र वर्गविद्याविभेदतः ॥१८॥
तेषां तन्मन्त्रवद्व्याप्तिर्यथेदानीं तथा शृणु ।
चतुरङ्गुलमाद्यं तु द्वे चान्येऽष्टाङ्गुले पृथक् ॥१९॥
दशाङ्गुलानि त्रीण्यस्मादेकं पञ्चदशाङ्गुलम् ।
चतुर्भिरधिकैरन्यन्नवमं व्यापकं महत् ॥२०॥
ऊनविंशतिके भेदे पदानां व्याप्तिरुच्यते ।
एकैकं द्व्यङ्गुलं ज्ञेयं ततः पूर्वं पदत्रयम् ॥२१॥
सप्ताङ्गुलानि चत्वारि दशाङ्गुलमतः परम् ।
द्व्यङ्गुलं द्वे पदे चान्ये षडङ्गुलमतः परम् ॥२२॥
द्वादशाङ्गुलमन्यच्च द्वेऽन्ये पञ्चाङ्गुले पृथक् ।
पदद्वयं चतुष्पर्व द्वे पूर्वे द्वे पृथक्ततः ॥२३॥
व्यापकं पदमन्यच्च ... तत्परिकीर्तितम् ।
अपरोऽयं विधिः प्रोक्तः परापरमतः शृणु ॥२४॥

पूर्ववत्पृथिवीतत्त्वं विज्ञेयं चतुरङ्गुलम् ।
सार्धद्व्यङ्गुलमानानि धिषणान्तानि लक्षयेत् ॥२५॥
प्रधानं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयं शेषं पूर्ववदादिशेत् ।
परेऽपि पूर्ववत्पृथ्वी त्र्यङ्गुलान्यपराणि च ॥२६॥
चतुष्पर्व प्रधानं च शेषं पूर्ववदाश्रयेत् ।
द्विविधोऽपि हि वर्णानां षड्विधो भेद उच्यते ॥२७॥
तत्त्वमार्गविधानेन ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पदमन्त्रकलादीनां पूर्वसूत्रानुसारतः ॥२८॥
त्रितयत्वं प्रकुर्वीत तत्त्ववर्णोक्तवर्त्मना ।
इत्थं भूतशरीरस्य गुरुणा शिवमूर्तिना ॥२९॥
प्रकर्तव्या विधानेन दीक्षा सर्वफलप्रदा ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे देहमार्गाधिकारः षष्ठः ॥६॥

अथ सप्तमोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः ।
याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ॥१॥
त्रिशूलं च तथा पद्मं शक्तिश्चक्रं सवज्रकम् ।
दण्डदंष्ट्रे महाप्रेता महामुद्रा खगेश्वरी ॥२॥
महोदया कराला च खटवाङ्गं सकपालकम् ।
हलं पाशाङ्कुशं घण्टा मुद्‌गरस्त्रिशिखोऽपरः ॥३॥
आवाहस्थापनीरोधा द्रव्यदा नतिरेव च ।
अमृता योगमुद्रेति विज्ञेया वीरवन्दिते ॥४॥
तर्जनीमध्यमानामा दक्षिणस्य प्रसारिताः ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाक्रान्तास्त्रिशूलं परिकीर्तितम् ॥५॥
पद्माकारौ करौ कृत्वा पद्ममुद्रां प्रदर्शयेत् ।
संमुखौ प्रसृतौ कृत्वा करावन्तरिताङ्गुली ॥६॥
प्रसृते मध्यमे लग्ने कौमार्याः शक्तिरिष्यते ।
उत्तानवाममुष्टेस्तु दक्ष································॥७॥
·······क्षयेन्मुष्टि चक्रं नाराचं·······················
उत्तानवामकस्योर्ध्वं न्यसेद्दक्षमधोमुखम् ॥८॥
कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ श्लिष्टौ शेषाः स्युर्मणिबन्धगाः ।
वज्रमुद्रेति विख्याता चैन्द्री संतोषकारिका ॥९॥
ऊर्द्धवप्रसारितो मुष्टिर्दक्षिणोऽङ्गुष्ठगर्भगः ।
दण्डमुद्रेति विख्याता वैवस्वतकुलप्रिया ॥१०॥
वामतो वक्रगां कुर्याद्वाममुष्टेः कनिष्ठिकाम् ।
दंष्ट्रेयं कीर्तिता देवि चामुण्डाकुलनन्दिनी ॥११॥

वामजानुगतं पादं हस्तौ पृष्ठप्रलम्बिनौ।
विकृते लोचने ग्रीवा भग्ना जिह्वा प्रसारिता ॥१२॥
सर्वयोगिगणस्येष्टा प्रीता योगीश्वरी मता।
हस्तावधोमुखौ पद्भ्यां हृदयान्तं नयेद्बुधः ॥१३॥
तिर्यग्मुखान्तमुपरि संमुखावूर्ध्वगौ नयेत्।
महामुद्रेति विख्याता देहशोधनकर्मणि ॥१४॥
सर्वकर्मकरी चैषा योगिनां योगसिद्धये।
बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ॥१५॥
दण्डाकारं तु तं भावं नयेद्यावत्कखत्रयम्।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥१६॥
एतां बद्ध्वा महावीरः खेगतिं प्रतिपद्यते।
अधोमुखस्य दक्षस्य वाममुत्तानमूर्ध्वतः ॥१७॥
अनामामध्यमे तस्य वामाङ्गुष्ठेन पीडयेत्।
तर्जन्या तत्कनिष्ठां च तर्जनीं च कनिष्ठया ॥१८॥
मध्यमानामिकाभ्यां च तदङ्गुष्ठं निपीडयेत्।
मुद्रा महोदयाख्येयं महोदयकरी नृणाम् ॥१९॥
अनामिकाकनिष्ठाभ्यां सृक्कण्यौ प्रविदारयेत्।
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ॥२०॥
क्रुद्धदृष्टिः करालेयं मुद्रा दुष्टभयङ्करी।
वामस्कन्धगतो वाममुष्टिरुच्छ्रिततर्जनी ॥२१॥
खट्वाङ्गाख्या स्मृता मुद्रा कपालमधुना शृणु।
निम्नं पाणितलं दक्षमीषत्संकुचिताङ्गुलि ॥२२॥
कपालमिति विज्ञेयमधुना हलमुच्यते।
मुष्टिबद्धस्य दक्षस्य तर्जनी वाममुष्टिना ॥२३॥
वक्रतर्जनिना ग्रस्ता हलमुद्रेति कीर्तिता।
मुष्टचा [पृष्ठ] गयोर्दक्षवामयोस्तर्जनीद्वयम् ॥२४॥

वामाङ्गुष्ठाग्रसंलग्नं पाशः प्रसृतकुञ्चितः ।
हले मुष्टिर्यथा वामो दक्षहीनस्तथाङ्कुशः ॥२५॥
अधोमुखस्थिते वामे दक्षिणां तर्जनीं बुधः ।
चालयेन्मध्यदेशस्थां घण्टामुद्रा प्रिया मता ॥२६॥
करावूर्ध्वमुखौ कार्यावन्योन्यान्तरिताङ्गुलौ ।
अनामे मध्यपृष्ठस्थे तर्जन्यौ मूलपर्वगे ॥२७॥
मध्यमे द्वे युते कार्ये कनिष्ठे परुषावधि ।
तर्जन्यौ मध्यपार्श्वस्थे विरले परिकल्पिते ॥२८॥
मुद्गरस्त्रिशिखो ह्येष क्षणादावेशकारकः ।
कराभ्यामञ्जलिं कृत्वा अनामामूलपर्वगौ ॥२९॥
अङ्गुष्ठौ कल्पयेद्विद्वान्मन्त्रावाहनकर्मणि ।
मुष्टौ द्वावुन्नताङ्गुष्ठौ स्थापनी परिकीर्तिता ॥३०॥
द्वावेव गर्भगाङ्गुष्ठौ विज्ञेया सन्निरोधिनी ।
द्रव्यदा तु समाख्याता..... त्र संमुखी ॥३१॥
हृदये संमुखौ हस्तौ संलग्नौ प्रसृताङ्गुली ।
नमस्कृतिरियं मुद्रा मन्त्रवन्दनकर्मणि ॥३२॥
अन्योन्यान्तरिताः सर्वाः करयोरङ्गुलीः स्थिताः ।
कनिष्ठां दक्षिणां वामेऽनामिकाग्रे नियोजयेत् ॥३३॥
दक्षिणे च तथा वामां तर्जनीमध्यमे तथा ।
अङ्गुष्ठौ मध्यमूलस्थौ मुद्रेयममृतप्रभा ॥३४॥
दक्षिणं नाभिमूले तु वामस्योपरि संस्थितम् ।
तर्जन्यङ्गुष्ठकौ लग्नौ उच्छ्रितौ योगकर्मणि ॥३५॥
एवं मुद्रागणं मन्त्री बध्नीयाद्धृदये बुधः ।
सर्वासां वाचकश्चासां ओं ह्रीं नाम ततो नमः ॥३६॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे मुद्राधिकारः सप्तमः ॥७॥

अथ अष्टमोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि यजनं सर्वकामदम् ।
यस्य दर्शनमात्रेण योगिनीसंमतो भवेत् ॥१॥
तत्रादौ यागसदनं शुभक्षेत्रे मनोरमम् ।
कारयेदग्निकुण्डेन वर्तुलेन समन्वितम् ॥२॥
पञ्चविंशतिपर्वेण समन्तादर्धनाभिना ।
तुर्यांशमेखलेनापि पर्वौष्ठेन सुशोभिना ॥३॥
ततः स्नात्वा जितद्वन्द्वो भावस्नानेन मन्त्रवित् ।
तच्च षड्विधमुद्दिष्टं भस्मस्नानाद्यनुक्रमात् ॥४॥
भस्मस्नानं महास्त्रेण भस्म सप्ताभिमन्त्रितम् ।
मलस्नानाय संहारक्रमेणोद्धलयेत्तनुम् ॥५॥
विद्याङ्गैः पञ्चभिः पश्चाच्छिरःप्रभृति गुण्ठयेत् ।
अभिषेकं तु कुर्वीत मूलेनैव षडङ्गिना ॥६॥
ततोऽवासाः सुवासा वा हस्तौ पादौ च धावयेत् ।
आचम्य मार्जनं कुर्याद्विद्यया भूरिवर्णया ॥७॥
न्यासं कृत्वा तु सामान्यमघमर्षं द्वितीयया ।
उपस्थानं च मालिन्या जपेच्चैकाक्षरां पराम् ॥८॥
जलस्नानेऽपि चास्त्रेण मृदं सप्ताभिमन्त्रिताम् ।
पूर्ववत्तनुमालभ्य मलस्नानं समाचरेत् ॥९॥
विधिस्नानादिकं चात्र पूर्ववत् किंतु वारिणा ।
साधारणविधिस्नातो विद्यात्रितयमन्त्रितम् ॥१०॥
तोयं विनिक्षिपेन्मूर्ध्नि मन्त्रस्नानाय मन्त्रवित् ।
रजसा गोधुतेनैव वायव्यं स्नानमाचरेत् ॥११॥

महास्त्रमुच्चरन् गच्छेद्ध्यानयुक् पदसप्तकम् ।
तदेव पुनरागच्छेदनुस्मृत्य परापराम् ॥१२॥
वर्षातपसमायोगाद्दिव्योऽप्येवंविधो मतः ।
किंतु तत्र परां मन्त्री स्रवन्तीममृतं स्मरेत ॥१३॥
अस्त्रेणाङ्गुष्ठमूलात्तु वह्निमुत्थाप्य निर्दहेत् ।
स्वतनुं प्लावयेत्पश्चात्परयैवामृतेन तु ॥१४॥
सूर्यादौ मन्त्रमादाय गच्छेदस्त्रमनुस्मरन् ।
यागवेश्मास्त्रसंशुद्धं विशेच्छुचिरनाकुलः ॥१५॥
तत्र द्वारपतीन् पूज्य महास्त्रेणाभिमन्त्रितम् ।
पुष्पं विनिक्षिपेद्ध्यात्वा ज्वलद्विघ्नप्रशान्तये ॥१६॥
दशस्वपि ततोऽस्त्रेण दिक्षु संकल्प्य रक्षणम् ।
प्रविशेद्यागसदनं वह्निवद्वह्निसंयुतम् ॥१७॥
पूर्वास्यः सौम्यवक्त्रो वा विशेषन्यासमारभेत् ।
तत्रादावस्त्रमन्त्रेण कालानलसमत्विषा ॥१८॥
अङ्गुष्ठाग्रात्तनुं दग्धां सबाह्याभ्यन्तरां स्मरेत् ।
विकीर्यमाणं तद्भस्म ध्यात्वा कवचवायुना ॥१९॥
शिवबिन्दुसमाकारमात्मानमनुचिन्तयेत् ।
ततोऽस्य योजयेच्छक्तिं सोऽहमित्यपराजितः ॥२०॥
विद्यामूर्तिं ततो दध्यान्मन्त्रेणानेन शाङ्करि ।
दण्डाक्रान्तं महाप्राणं दण्डारूढं सनाभिकम् ॥२१॥
नितम्बं तदधस्ताच्च वामस्तनमधः पुनः ।
कण्ठं च वामशिखरं वाममुद्राविभूषितम् ॥२२॥
बिन्द्वर्धचन्द्रखं नादशक्तिबिन्दुविभूषितम् ।
एष पिण्डवरो देवि नवात्मक इति श्रुतः ॥२३॥
सर्वसिद्धिकरश्चायं सरहस्यमुदाहृतः ।
एष त्र्यर्णोज्झितोऽधस्ताद्दीर्घैः षड्भिः स्वरैर्युतः ॥२४॥

षडङ्गानि हृदादीनि जातिभेदेन कल्पयेत् ।
क्षयरवलबीजैश्च दीप्तैर्बिन्दुविभूषितैः ॥२५॥
वक्त्राणि कल्पयेत्पूर्वमूर्ध्ववक्त्रादितः क्रमात् ।
प्रत्यङ्गविधिसिद्ध्यर्थं ललाटादिष्वथो न्यसेत् ॥२६॥
अ ललाटे द्वितीयं च वक्त्रे संपरिकल्पयेत् ।
इई नेत्रद्वये दत्त्वा उऊ कर्णद्वये न्यसेत् ॥२७॥
ऋ ॠ नासापुटे तद्वत् ऌ ॡ गण्डद्वये तथा ।
ए ऐ अधोर्ध्वदन्तेषु ओ औकारौ तथोष्ठयोः ॥२८॥
अं शिखायां बिसर्गेण जिह्वां संपरिकल्पयेत् ।
दक्षिणस्कन्धदोर्दण्डकराङ्गुलिनखेषु च ॥२९॥
कवर्गं बिन्यसेद्वामे तद्वच्चाद्यमनुक्रमात् ।
टताद्यौ पूर्ववद्वर्गौ नितम्बोर्वादिषु न्यसेत् ॥३०॥
पाद्यं पार्श्वद्वये पृष्ठे जठरे हृद्यनुक्रमात् ।
त्वग्रक्तमांसमूत्रेषु यवर्गं परिकल्पयेत् ॥३१॥
शाद्यमस्थिवसाशुक्रप्राणकूपेषु पञ्चकम् ।
मूर्त्यङ्गानि ततो दत्त्वा शिवमावाहयेद्बुधः ॥३२॥
प्राणोपरि न्यसेन्नाभिं तदूर्ध्वे दक्षिणाङ्गुलिम् ।
वामकर्णप्रमेयोतः सर्वसिद्धिप्रदः शिवः ॥३३॥
सद्भावः परमो ह्येष भैरवस्य महात्मनः ।
अङ्गान्यनेन कार्याणि पूर्ववत्स्वरभेदतः ॥३४॥
मूर्तिः सृष्टिस्त्रितत्त्वं च अष्टौ मूर्त्यङ्गसंयुता ।
शिवः साङ्गश्च षोढैव न्यासः सपरिकीर्तितः ॥३५॥
अस्योपरि ततः शाक्तं कुर्यान्न्यासं यथा शृणु ।
मूर्तौ परापरां न्यस्य तद्वक्त्राणि च मालिनीम् ॥३६॥
परादित्रितयं पश्चाच्छिखाहृत्पादगं न्यसेत् ।
कवक्त्रकण्ठहृन्नाभिगुह्योरुपादगं क्रमात् ॥३७॥

अघोर्याद्यष्टकं न्यस्य विद्याङ्गानि तु पूर्ववत् ।
ततस्त्वावाहयेच्छक्तिं सर्वयोगिनमस्कृताम् ॥३८॥
जीवः प्राणपुटान्तस्थः कालानलसमद्युतिः ।
अतिदीप्तस्तु वामाङ्घ्रिभूषितो मूर्ध्नि बिन्दुना ॥३९॥
दक्षजानुयुतश्चायं सर्वमातृगणान्वितः ।
अनेन प्रीणिताः सर्वा ददते वाञ्छितं फलम् ॥४०॥
सद्भावः परमो ह्येष मातॄणां परिपठ्यते ।
तस्मादेनां जपेन्मन्त्री य इच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥४१॥
रुद्रशक्तिसमावेशो नित्यमत्र प्रतिष्ठितः ।
यस्मादेषा पराशक्तिर्भेदेनानेन कीर्तिता ॥४२॥
यावत्यः सिद्धयस्तन्त्रे सर्वाः स्युरनया कृताः ।
अङ्गानि कल्पयेदस्याः पूर्ववत्स्वरभेदतः ॥४३॥
मूर्तिः सवक्त्रा शक्तिश्च विद्यात्रितय एव च ।
अघोर्याद्यष्टकं चेति तथा विद्याङ्गपञ्चकम् ॥४४॥
साङ्गा चैव परा शक्तिर्न्यासः प्रोक्तोऽथ षड्विधः ।
यामलोऽयमतो न्यासः सर्वसिद्धिप्रसिद्धये ॥४५॥
वामो वाथविधिः कार्यो मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ।
वर्णमन्त्रविभेदेन पृथग्वा तत्फलार्थिभिः ॥४६॥
यावन्तः कीर्तिता भेदैः शंभुशक्त्यणुवाचकाः ।
तावत्स्वप्येवमेवायं न्यासः पञ्चविधो मतः ॥४७॥
किंतु बाह्यस्तु यो यत्र स तत्राङ्गसमन्वितः ।
षष्ठः स्यादिति सर्वत्र षोढैवायमुदाहृतः ॥४८॥
स्वानुष्ठानाविरोधेन भावाभावविकल्पनैः ।
यागद्रव्याणि सर्वाणि कार्याणि विधिवद्बुधैः ॥४९॥
ततोऽर्घपात्रमादाय भावाभावाविकल्पितम् ।
ततश्चास्त्राग्निसंदग्धं शक्त्यम्बुप्लावितं शुचि ॥५०॥

कर्तव्या यस्य संशुद्धिरन्यस्याप्यत्र वस्तुनः ।
तस्यानेनैव मार्गेण प्रकर्तव्या विजानता ।५१॥
न चासंशोधितं वस्तु किंचिदप्यत्र कल्पयेत् ।
तेन शुद्धं तु सर्वं यदशुद्धमपि तच्छुचि ॥५२॥
तदम्बुना समापूर्य षड्भिरङ्गैः समर्प्य च ।
अमृतीकृत्य सर्वाणि तेन द्रव्याणि शोधयेत् ॥५३॥
आत्मानं पूजयित्वा तु कुर्यादन्तःकृतिं यथा ।
तथा ते कथयिष्यामि सर्वयोगिगणार्चिते ॥५४॥
आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम् ।
धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ॥५५॥
एकैकाङ्गुलमेतत्स्याच्छूलस्यामलसारकम् ।
ततो नालमनन्ताख्यं दण्डमस्य प्रकल्पयेत् ॥५६॥
लम्बिकावधितश्चात्र शूलोर्ध्वं ग्रन्थिरिष्यते ।
अभित्त्वैनं महादेवि पाशजालमहार्णवम् ॥५७॥
न स योगमवाप्नोति शिवेन सह मानवः ।
धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुष्टयम् ॥५८॥
कोणेषु चिन्तयेन्मन्त्री आग्नेयादिष्वनुक्रमात् ।
गात्रकाणां चतुष्कं च दिक्षु पूर्वादिषु स्मरेत् ॥५९॥
ग्रन्थेरूर्ध्वं त्रिशूलाधो भवितव्या चतुष्किका ।
विद्यातत्त्वं तदेवाहुश्छदनत्रयसंयुतम् ॥६०॥
कखलम्बिकयोर्मध्ये तत्तत्त्वमनुचिन्तयेत् ।
पद्माकृति कखतत्त्वमैश्वरं चिन्तयेद्बुधः ॥६१॥
कर्णिकाकेसरोपेतं सबीजं विकसत्सितम् ।
पूर्वपत्रादितः पश्चाद्वामादिनवकं न्यसेत् ॥६२॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली चेति तथा परा ।
कलविकरणी चैव बलविकरणी तथा ॥६३॥

बलप्रमथनी चान्या सर्वभूतदमन्यपि ।
मनोन्मनी च मध्येऽपि भानुमार्गेण विन्यसेत् ॥६४॥
विश्वादिनवकं चान्यद्विलोमात्परिकल्पयेत् ।
विभुर्ज्ञानी क्रिया चेच्छ्वा वागीशी ज्वालिनी तथा ॥६५॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च सर्वाः कालानलप्रभाः ।
ब्रह्मविष्णुहराः पूर्वं ये शाक्ताः प्रतिपादिताः ॥६६॥
दलकेसरमध्यस्था मण्डलानां त ईश्वराः ।
ध्वनि ? चार्केन्दुवह्नीनां संज्ञया परिभावयेत् ॥६७॥
ईश्वरं च महाप्रेतं प्रहसन्तं सचेतनम् ।
कालाग्निकोटिवपुषमित्येवं सर्वमासनम् ॥६८॥
तस्य नाभ्युत्थितं शक्तिशूलश्रृङ्गत्रयं स्मरेत् ।
कखत्रयेण निर्यातं द्वादशान्तावसानकम् ॥६९॥
चिन्तयेत्तस्य श्रृङ्गेषु शाक्तं पद्मत्रयं ततः ।
सर्वाधिष्ठायकं शुक्लमित्येतत्परमासनम् ॥७०॥
तत्रोपरि ततो मूर्ति विद्याख्यामनुचिन्तयेत् ।
आत्माख्यां च ततस्तस्यां पूर्वन्यासं शिवात्मकम् ॥७१॥
ततो मध्ये परां शक्तिं दक्षिणोत्तरयोर्द्वयम् ।
परापरां स्वरूपेण रक्तवर्णां महाबलाम् ॥७२॥
इच्छारूपधरा ध्यात्वा किंचिदुग्रां न भीषणाम् ।
अपरां वामश्रृङ्गे तु भीषणां कृष्णपिङ्गलाम् ॥७३॥
इच्छारूपधरां देवीं प्रणतार्तिविनाशिनीम् ।
परां चाप्यायनीं देवीं चन्द्रकोटयुतप्रभाम् ॥७४॥
षड्विधेऽपि कृते शाक्ते मूर्त्यादावपि चिन्तयेत् ।
विद्याङ्गपञ्चकं पश्चादाग्नेय्यादिषु विन्यसेत् ॥७५॥
अग्नीशरक्षोवायूनां दक्षिणे च यथाक्रमम् ।
शक्त्यङ्गानि शिवाङ्गानि तथैव विधिना स्मरेत् ॥७६॥

किंतु शक्रादिदिक्ष्वस्त्रमन्त्रं मध्ये च लोचनम् ।
अघोराद्यष्टकं ध्यायेदघोर्याद्यष्टकान्वितम् ॥७७॥
सर्वासामावृतत्वेन लोकपालांश्च बाह्यतः ।
सास्त्रान्स्वमन्त्रैः संचिन्त्य जपं पश्चात्समारभेत् ॥७८॥
स्वरूपे तल्लयो भूत्वा एकैकां दशधा स्मरेत् ।
ज्वलत्पावकसंकाशां ध्यात्वा स्वाहान्तमुच्चरेत् ॥७९॥
सकृदेकैकशो मन्त्री होमकर्मप्रसिद्धये ।
इत्येव मानसो यागः कथितः सामुदायिकः ॥८०॥
एतन्त्रिशूलमुद्दिष्टमेकदण्डं त्रिशक्तिकम् ।
इत्थमेतदविज्ञाय शक्तिशूलं वरानने ॥८१॥
बद्ध्वापि खेचरीं मुद्रां नोत्पतत्यवनीतलात् ।
इत्येतच्छाम्भवं प्रोक्तमष्टान्तं शाक्तमिष्यते ॥८२॥
तुर्यान्तिमाणवं विद्यादिति शूलत्रयं मतम् ।
पृथग्यागविधानेन शक्तिचक्रं विचिन्तयेत् ॥८३॥
तेनापि खेचरीं बद्ध्वा त्यजत्येवं महीतलम् ।
ततोऽभिमन्त्र्य धान्यानि महास्त्रेण त्रिसप्तधा ॥८४॥
निक्षिपेद्दिक्षु सर्वासु ज्वलत्पावकवत्स्मरेत् ।
निर्विघ्नं तद्गृहं ध्यात्वा संहृत्येशदिशं नयेत् ॥८५॥
पञ्चगव्यं ततः कुर्याद्वदनैः पञ्चभिर्बुधः ।
गोमूत्रं गोमयं चैव क्षीरं दधि घृतं तथा ॥८६॥
मन्त्रयेद्धृदयपर्यन्तैः षड्गेन कुशोदकम् ।
मुद्रे द्रव्यामृते बद्ध्वा तत्त्वं तस्य विचिन्तयेत् ॥८७॥
तेन संप्रोक्षयेद्भूमिं स्वल्पेनान्यन्निधापयेत् ।
वास्तुयाग ततः कुर्यान्मालिन्युच्चारयोगतः ॥८८॥
पुष्पैरञ्जलिमापूर्य फकारादि समुच्चरन् ।
ध्यात्वा शक्त्यन्तमध्यानं नकारान्ते विनिक्षिपेत् ॥८९॥

गन्धधूपाधिकं दत्त्वा गणेशानं प्रपूजयते ।
षडुत्थमाशनं न्यस्य प्रणवेन ततोपरि ॥९०॥
गामित्यनेन विघ्नेशं गन्धधूपादिभिर्यजेत् ।
अस्याङ्गानि गकारेण षड्दीर्घस्वरयोगतः ॥९१॥
त्रिनेत्रमुदितं ध्यात्वा गजास्यं वामनाकृतिम् ।
विसर्ज्य सिद्धिकामस्तु महास्त्रमनुपूजयेत् ॥९२॥
दत्त्वानन्तं तथा धर्मं ज्ञानं वैराग्यमेव च ।
ऐश्वर्यं कर्णिकां चेति षडुत्थमितमासनम् ॥९३॥
अस्योपरि न्यसेद्ध्यात्वा खड्गखेटकधारिणम् ।
विकरालं महादंष्ट्रं महोग्रं भ्रुकुटी मुखम् ॥९४॥
स्वाङ्गषट्कसमोपेतं दिङ्मातृपरिवारितम् ।
स्वांङ्गैरेवाङ्गषट्कं तु फट्कारंपरिदीपितम् ॥९५॥
तद्रूपमेव संचिन्त्य ततो मात्रष्टकं यजेत् ।
इन्द्राणीं पूर्वपत्रे तु सवज्रां युगपत्स्मरेत् ॥९६॥
आग्नेयीं शक्तिहस्तां च याम्यां दण्डकरां ततः ।
नैर्ऋतीं वरुणानी च वायवीं च विचक्षणः ॥९७॥
खड्गपाशध्वजैर्युक्तां चिन्तयेद्युगपत्प्रिये ।
कौवेरीं मुद्गरकरामीशानीं शूलसयुताम् ॥९८॥
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य स्वतन्त्रे होममाचरेत् ।
आदौ च कलशं कुर्यात्सहस्राधिकमन्त्रितम् ॥९९॥
सहस्रं होमयेत्तत्र ततो जप्त्वा विसर्जयेत् ।
शतमष्टोत्तरं पूर्णं पश्चाद्यजनमारभेत् ॥१००॥
तत्रादौ कुम्भमादाय हेमादिमयमव्रणम् ।
सर्वमन्त्रौषधीगर्भं गन्धाम्बुपरिपूरितम् ॥१०१॥
चूतपल्लववक्त्रं च स्रवसूत्रसितकण्ठकम् ।
रक्षोघ्नतिलकाक्रान्तं सितवस्त्रयुगावृतम् ॥१०२॥

शताष्टोत्तरसंजप्तं मूलमन्त्रप्रपूजितम् ।
वार्धान्यपि तथाभूता किंतु सास्त्रेण पूजिता ॥१०३॥
विकिरैरासनं दत्त्वा पूर्वोक्तं तु विचक्षणः ।
इन्द्रादिन्पूजयेत्पश्चात्स्वदिक्षु प्रोक्तस्वस्वरैः ॥१०४॥
अविच्छिन्नां ततो धारां वार्धान्या प्रतिपादयेत् ।
भ्रामयेत्कलशं पश्चाद्ब्रूयाल्लोकेश्वरानिदम् ॥१०५॥
भो भोःशक्र त्वया स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये ।
सावधानेन कर्मान्तं भवितव्यं शिवाज्ञया ॥१०६॥
नीत्वा तत्रासने पूर्वं मूर्तिभूतं घटं न्यसेत् ।
तस्य दक्षिणदिग्भावे वार्धानीं विनिवेशयेत् ॥१०७॥
आत्ममूर्त्यादिपूज्यान्तं कुम्भे विन्यस्य मन्त्रवित् ।
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य वार्धान्यां पूजयेदिमम ॥१०८॥
गन्धैर्मण्डलकं कृत्वा ब्रह्मस्थाने विचक्षणः ।
तत्र संपूजयेत्षट्कं त्रिकं वाप्येकमेव वा ॥१०९॥
कुण्डस्योल्लेखनं लेखः कुट्टनं चोपलेपनम् ।
चतुष्पथाक्षवाटं च वज्रसंस्थापनं तथा ॥११०॥
कुशास्तरणपरिधिविष्टराणां च कल्पनम् ।
सर्वमस्त्रेण कुर्वीत विद्यामोंह्रीमिति न्यसेत् ।.१११॥
शिवमोमिति विन्यस्य संपूज्य द्वितयं पुनः ।
ताम्रपात्रे शरावे वा आनयेज्जातवेदसम् ॥११२॥
शिवशुक्रमिति ध्यात्वा विद्यायोनौ विनिक्षिपेत् ।
ततस्त्वाहुतयः पञ्च विद्याङ्गैरेव होमयेत् ॥११३॥
जननादि ततः कर्म सर्वमेवंकृते कृतम् ।
परापरामनुस्मृत्य दद्यात्पूर्णाहुतिं पुनः ॥११४॥
संपूज्य मातरं वह्नेः पितरं च विसर्जयेत् ।
चर्वादिसाधनायाग्निं समुद्धृत्य ततः पुनः ॥११५॥

ज्वलितस्याथवा वह्नेश्छित्ति वामेन वायुना।
आकृष्य हृदि संकुम्भ्य दक्षिणेन पुनः क्षिपेत् ॥११६॥
पूर्णां च पूर्ववद्दद्याच्छिवाग्नेरपरो विधिः।
शिवरूपं तमालोक्य तस्यात्मान्तःकृतिः क्रमात् ॥११७॥
कुर्यादन्तःकृतिं मन्त्री ततो होमं समारभेत्।
मूलं शतेन संतर्प्य तदङ्गानि षडङ्गतः ॥११८॥
शेषाणां मन्त्रजातीनां दशांशेनैव तर्पणम्।
ततः प्रवेशयेच्छिष्याञ्शुचीन्स्नातानुपोषितान् ॥११९॥
प्रणम्य देवदेवेशं चतुष्टयगतं क्रमात्।
पञ्चगव्यं चरुं दद्याद्दन्तधावनमेव च ॥१२०॥
हृदयेन चरोः सिद्धिर्याज्ञिकैः क्षीरतण्डुलैः।
संपातं सप्तभिर्मन्त्रैस्ततः षड्भागभाजितम् ॥१२१॥
शिवाग्निगुरुशिष्याणां वार्धनीकुम्भयोः समम्।
दन्तकाष्ठं ततो दद्यात्क्षीरवृक्षसमुद्भवम् ॥१२२॥
तस्य पातः शुभः प्राचीसौम्यैशाप्योर्ध्वदिग्गतः।
अशुभोऽन्यत्र तत्रापि होमोऽष्टशतिको भवेत् ॥१२३॥
बहिःकर्म ततः कुर्याद्दिक्षु सर्वासु दैशिकः।
ओं क्षः क्षः सर्वभूतेभ्यः स्वाहेति मनुनामुना ॥१२४॥
समाचम्य कृतन्यासः समभ्यर्च्य च शङ्करम्।
....गृहे शुचिः ॥१२५॥
न्यासं कृत्वा तु शिष्याणामात्मनश्च विशेषतः।
प्रभाते नित्यकर्मादि कृत्वा स्वप्नं विचारयेत् ॥१२६॥
शुभं प्रकाशयेत्तेषामशुभे होममाचरेत्।
ततः पुष्पफलादीनां सुवेशाभरणाः स्त्रियः ॥१२७॥
आपदुत्तरणं चैव शुभदेशावरोहणम्।
मद्यपानं शिरश्छेदमाममांसस्य भक्षणम् ॥१२८॥

देवतादर्शनं साक्षात्तथा विष्ठानुलेपनम् ।
एवंविधं शुभं दृष्ट्वा सिद्धिं प्राप्नोत्यभीप्सिताम् ।।१२९।।
एतदेवान्यथाभूतं दुःस्वप्न इति कीर्त्यते ।
पक्वमांसाशनाभ्यङ्गगर्तादिपतनादिकम् ।।१३०।।
तन्त्रोक्तां निष्कृतिं कृत्वा द्विजत्वापादनं ततः ।
देवाग्निगुरुदेवीनां पूजां कृत्वा सदा बुधः ।।१३१।।
एतेषामनिवेद्यैव न किंचिदपि भक्षयेत् ।
देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं चण्डीद्रव्यं च वर्जयेत् ।।१३२।।
निष्फलं नैव चेष्टेत मुहूर्तमपि मन्त्रवित् ।
योगाभ्यासरतो भूयान्मन्त्राभ्यासरतोऽपि वा ।।१३३।।
इत्येवमादिसमयाञ्श्रावयित्वा विसर्जयेत् ।
देवदेवं ततः स्नानं शिष्याणामात्मनोऽपि वा ।।१३४।।
कारयेच्छिवकुम्भेन सर्वदुष्कृतहारिणा ।
इत्येतत्सामयं कर्म समासात्परिकीर्तितम् ।।१३५।।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे समयाधिकारोऽष्टमः ।।८।।

अथ नवमोऽधिकारः

अथैषां समयस्थानां कुर्याद्दीक्षां यदा गुरुः।
तदाधिवासनं कृत्वा .... ॥ १ ॥

स च पूर्वां दिशं सम्यक् सूत्रमास्फालयेत्ततः।
तन्मध्यात्पूर्ववारुण्यावङ्कयेत समान्तरम् ॥ २ ॥
पूर्वापरसमासेन सूत्रेणोत्तरदक्षिणम्।
अङ्कयेदपरादङ्कात्पूर्वादपि तथैव ते ॥ ३ ॥
मत्स्यमध्ये क्षिपेत्सूत्रमायतं दक्षिणोत्तरे।
मतक्षेत्रार्धमानेन मध्याद्दिक्ष्वङ्कयेत्समम् ॥ ४ ॥
तद्वद्दिक्स्थाच्च कोणेषु अनुलोमविलोमतः।
पातयेत्तेषु सूत्राणि चतुरश्रप्रसिद्धये ॥ ५ ॥
वेदाश्रिते हि हस्ते प्राक् पूर्वमर्धं विभाजयेत्।
हस्तार्धं सर्वतस्त्यक्त्वा पूर्वोदग्यामदिग्गतम् ॥ ६ ॥
गुणाङ्गुलसमैर्भागैः शेषमस्य विभाजयेत्।
त्र्यङ्गुलैः कोष्ठकैरूर्ध्वैस्तिर्यक् चाष्टद्विधात्मकैः ॥ ७ ॥
द्वौ द्वौ भागौ परित्यज्य पुनर्दक्षिणसौम्यगौ।
ब्रह्मणः पार्श्वयोर्जीवाच्चतुर्थात्पूर्वतस्तथा ॥ ८ ॥
भागार्धभागमानं तु खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम्।
तयोरन्तस्तृतीये तु दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः ॥ ९ ॥
जीवे खण्डेन्दुयुगलं कुर्यादन्तर्भ्रमाद्बुधः।
तयोरपरमर्मस्थं खण्डेन्दुद्वयकोटिगम् ॥१०॥
बहिर्मुखभ्रमं कुर्यात् खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम्।
तद्वद्ब्रह्मणि कुर्वीत भागभागार्धसंमितम् ॥११॥

ततो द्वितीयभागान्ते ब्रह्मणः पार्श्वयोर्द्वयोः ।
द्वे रेखे पूर्वगे नेये भागत्र्यंशशमे बुधैः ॥१२॥
एकार्धेन्दूर्ध्वकोटिस्थं ब्रह्मसूत्राग्रसंगतम् ।
सूत्रद्वयं प्रकुर्वीत मध्यशृङ्गप्रसिद्धये ॥१३॥
तदग्रपार्श्वयोर्जीवात्सूत्रमेकान्तरे श्रितम् ।
आदिद्वितीयखण्डेन्दुकोणात्कोणान्तमाश्रयेत् ॥१४॥
तयोरेवापराज्जीवात्प्रथमार्धेन्दुकोणतः ।
तद्वदेव नयेत्सूत्रं शृङ्गद्वितयसिद्धये ॥१५॥
क्षेत्रार्धे चापरे दण्डो द्विकरच्छन्नपञ्चकः ।
द्विकरं पञ्च तद्भागाः पञ्चपीठतिरोहिताः ॥१६॥
शेषमन्यद्भवेद्दृश्यं पृथुत्वाद्भागसंमितम् ।
षड्विस्तृतं चतुर्दीर्घं तदधोऽमलसारकम् ॥१७॥
वेदाङ्गुलं च तदधो मूलं तीक्ष्णाग्रमिष्यते ।
आदिक्षेत्रस्य कुर्वीत दिक्षु द्वारचतुष्टयम् ॥१८॥
हस्तायामं तदर्धं तु विस्तारादपि तत्समम् ।
द्विगुणं बाह्यतः कुर्यात्ततः पद्मं यथा शृणु ॥१९॥
एकैकभागमानानि कुर्याद्वृत्तानि वेदवत् ।
दिक्ष्वष्टौ पुनरप्यष्टौ जीवसूत्राणि षोडश ॥२०॥
द्वयोर्द्वयोः पुनर्मध्ये तत्संख्यातानि पातयेत् ।
एषां तृतीयवृत्तस्थं पार्श्वजीवसमं भ्रमम् ॥२१॥
एतदन्तं प्रकुर्वीत ततो जीवाग्रमानयेत् ।
यत्रैव कुत्रचित्सङ्गस्तत्संबन्धे स्थिरीकृते ॥२२॥
तत्र कृत्वा नयेन्मन्त्री पत्राग्राणां प्रसिद्धये ।
एकैकस्मिन्दले कुर्यात्केसराणां त्रयं त्रयम् ॥२३॥
द्विगुणाष्टाङ्गुलं कार्यं तद्वच्छृङ्गकजत्रयम् ।
ततः प्रपूजयेन्मन्त्री रजोभिः सितपूरकैः ॥२४॥

रक्तैः कृष्णैस्तथा पीतैर्हरितैश्च विशेषतः ।
कर्णिका पीतवर्णेन मूलमध्याग्रदेशतः ॥२५॥
सितं रक्तं तथा पीतं कार्यं केसरजालकम् ।
दलानि शुक्लवर्णानि प्रतिवारणया सह ॥२६॥
पीतं तद्वच्चतुष्कोणं कर्णिकार्धसमं बहिः ।
सितरक्तपीतकृष्णैस्तत्पादान्वह्नितः क्रमात् ॥२७॥
चतुर्भिरपि शृङ्गाणि त्रिभिर्मण्डलमिष्यते ।
दण्डः स्यान्नीलरक्तेन पीतमामलसारकम् ॥२८॥
रक्तं शूलं प्रकुर्वीत यत्तत्पूर्वं प्रकल्पितम् ।
पश्चाद्द्वारस्य पूर्वेण त्यक्त्वाङ्गुलचतुष्टयम् ॥२९॥
द्वारं वेदाश्रि वृत्तं वा संकीर्णं वा विचित्रितम् ।
एकद्वित्रिपुरं तुल्यं सामुद्गमथ वोभयम् ॥३०॥
कपोलकण्ठशोभोपशोभादिबहुचित्रितम् ।
विचित्राकारसंस्थानं वल्लीसूक्ष्मगृहान्वितम् ॥३१॥
एवमत्र सुनिष्पन्ने गन्धवस्त्रेण मार्जनम् ।
कृत्वा स्नानं प्रकुर्वीत पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥३२॥
प्रविश्य पूर्ववन्मन्त्री उपविश्य यथा पुरा ।
न्यस्य पूर्वोदितं सर्वं पञ्चधा भैरवात्मकम् ॥३३॥
उत्तरे विन्यसेच्छृङ्गे देवदेवं नवात्मकम् ।
मध्ये भैरवसद्भावं दक्षिणे रतिशेखरम् ॥३४॥
रक्तत्वङ्मांसमूत्रैस्तु वामकर्णविभूषितम् ।
बिन्दुयुक्तं प्रमेयोतं रतिशेखरमादिशेत् ॥३५॥
शाक्तं च पूर्ववत्कृत्वा तर्पयेत्पूर्ववद्बुधः ।
पुनरभ्यर्च्य देवेशं भक्त्या विज्ञापयेदिदम् ॥३६॥
गुरुत्वेन त्वयैवाहमाज्ञातः परमेश्वर ।
अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शिवशक्तिप्रचोदिताः ॥३७॥

तदेते तद्विधाः प्राप्तास्त्वमेषां कुर्वनुग्रहम् ।
मदीयां तनुमाविश्य येनाहं त्वत्समो भवन् ॥३८॥
करोम्येवमिति प्रोक्तो हर्षादुत्फुल्ललोचनः ।
ततः षड्विधमध्वानमनेनाधिष्ठितं स्मरेत् ॥३९॥
सृष्टयादिपञ्चकर्माणि निष्पाद्यान्यस्य चिन्तयेत् ।
शक्तिभिर्जीवमूर्तिः स्याद्द्विधैवास्य परापरा ॥४०॥
मूर्तामूर्तत्वभेदेन मामप्येषानुतिष्ठति ।
करणत्वं प्रयान्त्यस्य मन्त्रा ये हृदयादयः ॥४१॥
एवंभूतं शिवं ध्यात्वा तद्गतेनान्तरात्मना ।
भाव्यं तन्मयमात्मानं दशधावर्तयेच्छिवम् ॥४२॥
त्रिःकृत्वा सर्वमन्त्रांश्च गर्भावरणसंस्थितान् ।
सितोष्णीषं ततो बद्ध्वा सप्तजप्तं नवात्मना ॥४३॥
शिवहस्तं ततः कुर्यात्पाशविश्लेषकारकम् ।
प्रक्षाल्य गन्धतोयेन हस्तं हस्तेन केनचित् ॥४४॥
गन्धदिग्धो यजेद्देवं साङ्गमासनवर्जितम् ।
आत्मन्यलम्भनं कुर्याद्ग्रहणं योजनं तथा ॥४५॥
वियोगं च तथोद्धारं पाशच्छेदादिकं च यत् ।
एवं पतित्वमासाद्य प्रपञ्चव्याप्तितः शिवम् ॥४६॥
भावयेत्पृथगात्मानं तत्समानगुणं ततः ।
मण्डलस्थोऽहमेवायं साक्षीवाखिलकर्मसु ॥४७॥
होमाधिकरणत्वेन वह्नावहमवस्थितः ।
आयागान्तमहं कुम्भे संस्थितो विघ्नशान्तये ॥४८॥
शिष्यदेहे च तत्पाशविश्लेषत्वप्रसिद्धये ।
साक्षात्स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणः ॥४९॥
इत्येतत्सर्वमालोच्य शोध्याध्यानं विचिन्तयेत् ।
दीक्षां येनाध्वना मन्त्री शिष्याणां कर्तुमिच्छति ॥५०॥

तत्रवालोचयेत्सर्वं यायात्पदमनामयम् ।
तत्र तेनापृथग्भूत्वा पुनः संचिन्तयेदिदम् ॥५१॥
अहमेव परं तत्त्वं मयि सर्वमिदं जगत् ।
अधिष्ठाता च कर्ता च सर्वस्याहमवस्थितः ॥५२॥
तत्समत्वं गतो जन्तुर्मुक्त इत्यभिधोयते ।
एवं संचिन्त्य भूयोऽपि शोध्यमाद्यं समाश्रयेत् ॥५३॥
शिष्यमण्डलवह्नीनां तत्रैकं भावयेत्स्थितम् ।
शोध्याध्वानं तु शिष्याणां न्यस्य देहे पुरोक्तवत् ॥५४॥
स्वेन स्वेनैन मन्त्रेण स्वव्याप्तिध्यानमाश्रयेत् ।
आगन्तु सहजं शाक्तं बद्ध्वादौ पाशपञ्जरम् ॥५५॥
बाहुकण्ठशिखाग्रेषु त्रिषु (वृत्) त्रिगुणतन्तुना ।
स्वमन्त्रेण ततस्तत्त्वमावाह्येष्ट्वा प्रतर्प्य च ॥५६॥
ततस्तच्छोध्ययोनीनां व्यापिनीं योनिमानयेत् ।
मायान्तेऽध्वनि तामेव शुद्धे विद्यां विचक्षणः ॥५७॥
तस्यां संतर्पणं कृत्वा शिष्यमस्त्रेण ताडयेत् ।
आलभ्य हृदये विद्वाञ्छिवहस्तेन तं पुनः ॥५८॥
ग्रहणं तस्य कुर्वीत रश्मिमात्रावियोगतः ।
नाडीमार्गेण गत्वा तु हंहृन्मन्त्रपुटीकृतम् ॥५९॥
कृत्वात्मस्थं ततो योनौ गर्भाधानं विचिन्तयेत् ।
त्र्यर्णार्धाक्षरया मन्त्री सर्वगर्भक्रियान्वितम् ॥६०॥
भोग्यभोक्तृत्वसामर्थ्यनिष्पत्त्या जननं बुधः ।
दक्षभृङ्गस्थया मन्त्री प्रकुर्वीत सुलोचने ॥६१॥
पिबनीपूर्विकाभिश्च अस्त्राद्यैः परयापि च ।
सम्यगाहुतयो दद्याद्दश पञ्च विचक्षणः ॥६२॥
ततोऽस्यापरया कार्यं पाशविच्छेदनं बुधैः ।
भुवनेशमथामन्त्र्य तत्त्वेश्वरमथापि वा ॥६३॥

भोगभागा.................पश्चात्तमिदमादिशेत् ।
भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया ।।६४।।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ।
उत्क्षेपणं ततः कुर्यात्तयैवाध्युष्टवर्णया ।।६५।।
अव्याप्तिमन्त्रसंयोगात्पृथङ् मार्गविशुद्धये ।
दद्यादेकैकशो ध्यात्वा आहुतीनां त्रयं त्रयम् ।।६६।।
ततः पूर्णाहुतिं दद्यात्परया वौषडन्तया ।
शिशुमुत्क्षिप्य चात्मस्थं तद्देहस्थं च कारयेत् ।।६७।।
आहुतीनां त्रयं दद्याद्दत्त्वा पूर्णाहुतिं बुधः ।
महापाशुपतास्त्रेण विलोमादिविशुद्धये ।।६८।।
विसर्जयित्वा वागीशीं तत्त्वं तु तदनन्तरम् ।
विलीनं भावयेच्छुद्धमशुद्धे परमेश्वरि ।।६९।।
कालान्तव्याप्तिसंशुद्धो कृतायामेवमादरात् ।
बाहुपाशं तु तं छित्त्वा होमयेदाज्यसंयुतम् ।।७०।।
मायातत्त्वे विशुद्धे तु कण्ठपाशे तथा बुधः ।
मायान्तमार्गसंशुद्धौ दीक्षाकर्मणि सर्वतः ।।७१।।
क्रियास्वनुक्तमन्त्रासु योजयेदपरां बुधः ।
विद्यादिसकलान्ते च तद्वदेव परापराम् ।।७२।।
योजयेन्नैश्वरादूर्ध्वं पिबन्यादिकमष्टकम् ।
न चापि सकलादूर्ध्वमङ्गषट्कं विचक्षणः ।।७३।।
निष्कले परया कार्यं यत्किंचिद्विधिचोदितम् ।
विशुद्धे सकलान्ते तु शिखां छित्त्वा विचक्षणः ।।७४।।
हुत्वा चाज्यं ततः शिष्यं स्नापयेदनुपूर्वतः ।
आचम्याभ्यर्च्य देवेशं स्त्रुवमापूर्य सर्पिषा ।।७५।।
कृत्वा शिष्यं तथात्मस्थं मूलमन्त्रमनुस्मरेत् ।
शिवशक्तिं तथात्मानं शिष्यं सर्पिस्तथानलम् ।।७६।।

एकीकुर्वञ्छनैर्गच्छेद्द्वादशान्तमनन्यधीः ।
तत्र कुम्भकमास्थाय ध्यायन्सकलनिष्कलम् ॥७७॥
तिष्ठेत्तावदनुद्विग्नो यावदाज्यक्षयो भवेत् ।
एवं युक्तः परे तत्त्वे गुरुणा शिवमूर्तिना ॥७८॥
न भूयः पशुतामेति दग्धमायानिबन्धनः ।
विधिरेष समाख्यातो दीक्षाकर्मणि भौवने ॥७९॥
इतराध्वविधिं मुक्त्वा शिवयोगविधिं तथा ।
विलोमकर्म संत्यज्य द्विगुणस्तत्त्ववर्त्मनि ॥८०॥
तद्वच्च वर्णमार्गेऽपि चतुर्धा पदवर्त्मनि ।
अष्टधा मन्त्रमार्गेऽपि कलाख्येऽपि च तद्विधा ॥८१॥
त्रिखण्डे विंशतिगुणः स एव परिकीर्तितः ।
इति सर्वाध्वसंशुद्धिः समासात्परिकीर्तिता ॥८२॥
साधकाचार्ययोः कर्म कथ्यमानमतः शृणु ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे क्रियादीक्षाधिकारो नवमोऽधिकारः ॥९॥

अथ दशमोऽधिकारः

अथ लक्षणसंपन्नं सिद्धिसाधनतत्परम् ।
शास्त्रज्ञं संयतं धीरमलुब्धमशठं दृढम् ॥१॥
अपरीक्ष्य गुरुस्तद्वत्साधकत्वे नियोजयेत् ।
समभ्यर्च्य विधानेन पूर्ववत्परमेश्वरम् ॥२॥
द्वितीये पूर्ववत्कुम्भं हेमादिमयमव्रणम् ।
सर्वत्र मध्यपद्मस्य दक्षिणं दलमाश्रितम् ॥३॥
नायकानां पृथङ्मन्त्रान्पूजयेत्कुसुमादिभिः ।
तं संतर्प्य सहस्रेण प्रकुर्यादभिषेचनम् ॥४॥
भद्रपीठे शुभे स्थाप्य श्रीपर्णे दारुनिर्मिते ।
पूर्वामुखमुदग्वक्त्रं स्नातं पुष्पाद्यलङ्कृतम् ॥५॥
कृतमन्त्रतनुः सम्यक् सम्यक्व कृतमङ्गलः ।
शङ्खभेर्यादिनिर्घोषैर्वेदमङ्गलनिस्वनैः ॥६॥
सर्वराजोपचारेण कृत्वा तस्याभिषेचनम् ।
सदाशिवसमं ध्यात्वा ततस्तमपि भूषयेत् ॥७॥
पुनः संपूज्य देवेशं मन्त्रमस्मै ददेद्बुधः ।
पुष्पाक्षततिलोपेतः सजल...चरं न्यसेत् ॥८॥
सोऽपि मूर्धनि तं तद्वन्मूर्तिमाश्रित्य दक्षिणाम् ।
अभिषिच्य ततोऽस्त्रेण रुद्रशक्ति प्रकाशयेत् ॥९॥
स तयालिङ्ग्य तन्मन्त्रं सहस्रेण प्रतर्पयेत् ।
तदा प्रभृति तन्निष्ठस्तत्समानगुणो भवेत् ॥१०॥
आचार्यस्याभिषेकोऽयं स.....मन्त्रविधि विना ।
किंतु तस्य... अधिवासपदान्वितम् ॥११॥
एवमेतत्पदं प्राप्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मनाम् ।
साधको मन्त्रसिद्ध्यर्थं मन्त्रव्रतमुपाचरेत् ॥१२॥

एवं कृत्वाभिषेकोक्तं स्नात्वा विद्याधिपं जपेत् ।
लक्षमेकं द[शांशेन त]स्य तर्पणमाचरेत् ॥१३॥
पूर्ववच्चाभिषेकं च कृत्वा ब्रह्मशिरो जपेत् ।
तल्लक्ष्यस्तन्मयो भूत्वा लक्षद्वयमतन्द्रितः ॥१४॥
लक्षद्वयं च रुद्राणों चतुष्कं तु पुरुष्टुतम् ।
लक्षाणां पञ्चकं देवि महापाशुपतं जपेत् ॥१५॥
सितरक्तपीतकृष्णविचित्राम्बरभूषणः ।
ततः संरक्षितो मन्त्रैरेभिरप्रतिमो भवेत् ॥१६॥
अबाध्यः सर्वदुष्टानां मन्त्रतेजोपबृंहितः ।
एवं चीर्णव्रतो भूत्वा यं साधयितुमिच्छति ॥१७॥
दत्त्वार्घं तस्य लक्षाणां जपेन्नवकमादरात् ।
उत्तमद्रव्यहोमाच्च तद्दशांशेन तर्पणम् ॥१८॥
महाक्ष्मापपलान्याहुरुत्तमादीनि तद्विदः ।
मध्यमे द्विगुणं कृत्वा त्रिगुणं कन्यसेऽपि च ॥१९॥
आज्यगुग्गुलनृस्नेहा महामांससमाः मताः ।
दधिबिल्वपयःपद्माः क्ष्मासमाः परिकीर्तिताः ॥२०॥
धात्रीदूर्वामृतामीनाः सम्यगाज्यसमा मताः ।
तिलाद्यैरथ कुर्वीत नवषट्त्रिगुणं क्रमात् ॥२१॥
पूर्वमेवमिमं कृत्वा सिद्धैरर्घं ददेद्बुधः ।
दत्त्वार्घं तु जपेत्तावद्यावत्सिद्धिरभीप्सिता ॥२२॥
लक्षेणैकेन पृथ्वीशः सभृत्यबलवाहनः ।
वशमानीयते देवि द्वाभ्यां राज्यमवाप्नुयात् ॥२३॥
त्रिभिर्निधानसंसिद्धिश्चतुर्भिर्बलसिद्धयः ।
पञ्चभिर्मेदिनी सर्वा षड्भिरप्सरसां गणः ॥२४॥
सप्तभिः सप्त लोकाश्च दशभिस्तत्समो भवेत् ।
पञ्चाशद्भिस्ततो गच्छेदव्यक्तान्तं महेश्वरि ॥२५॥

मायान्तं षष्टिभिर्लक्षैरीश्वरान्तमशीतिभिः ।
सकलावनिपर्यन्तं कोटिजप्तस्य सिद्ध्यति ॥२६॥
अथवा वीरचित्तः स्यात्कृत्वा सेवां यथोदिताम् ।
कृष्णभूतदिने रात्रौ विधिमेनं समाचरेत् ॥२७॥
कृत्वा पूर्वोदितं यागं हुत्वा द्रव्यमथोत्तरम् ।
ऊर्ध्वकायो जपेन्मन्त्री सुनिष्कम्पोत्तरामुखः॥२८॥
तावद्यावत्समायाता योगेश्वर्यः समन्ततः ।
कृत्वा कलकलारावमतिघोरं सुदारुणम् ॥२९॥
भूमौ निपत्य तिष्ठन्ति वेष्टयान्तः साधकेश्वरम् ।
तासां कृत्वा नमस्कारं भित्त्वा वामाङ्गमात्मनः ॥३०॥
तदुत्थेन यतस्तामां दत्त्वार्धं तत्समो भवेत् ।
आच योंऽपि च षण्मासं मौनी प्रतिदिनं चरेत् ॥३१॥
दश पञ्च च ये मन्त्राः पूर्वमुक्ता मया तव ।
पूर्वन्यासेन संनद्धस्त्रिकालं वह्निकार्यकृत् ॥३२॥
ध्यायेत्पूर्वोदितं शूलं ब्रह्मचर्यं समाश्रितः ।
कृत्वा पूर्वोदितं यागं त्रिशक्तिपरिमण्डलम् ॥३३॥
अभिषिञ्चेत्तदात्मानमादावन्ते च देशिकः ।
एवं चीर्णव्रतो भूत्वा मन्त्रो मन्त्रविदुत्तमः । ३४॥
निग्रहानुग्रहं कर्म कुर्वन्न प्रतिहन्यते ।
शुद्धयोर्विन्यसेन्मूलंमध्यादित्रितये त्रयम् ॥३५॥
वामाङ्गुष्ठे तले नेत्रं तर्जन्यामस्त्रमेव च ।
अक्षह्लोमिति खण्डेन शब्दराशिं निवेशयेत् ॥३६॥
नफह्लीमित्यनेनापि शक्तिमूर्तिं विचक्षणः ।
विपरीतमहामुद्राप्रयोगान्मूलमेव च ॥३७॥
स्वस्थानेषु तथाङ्गानि न्यासः सामान्य इत्ययम् ।
इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रेऽभिषेकाधिकारो दशमः ॥१०॥

अथ एकादशोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि दीक्षां परमदुर्लभाम् ।
भुक्तिमुक्तिकरीं सम्यक्सद्यःप्रत्ययकारिकाम् ॥१॥
नास्यां मण्डलकुण्डादि किंचिदप्युपयुज्यते ।
न च न्यासादिकं पूर्वं स्नानादि च यथेच्छया ॥२॥
प्रविश्य यागसदनं सूपलिप्तं सुर्चाचितम् ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि सुपुष्पाम्बरभूषितः ॥३॥
दीप्तां शक्तिमनुस्मृत्य पादाग्रान्मस्तकावधि ।
महामुद्राप्रयोगेन निर्दग्धां चिन्तयेत्तनुम् ॥४॥
अनुलोमप्रयोगाच्च मालिनीममृतप्रभाम् ।
चिन्तयेत्तनुनिष्पत्त्यै तद्ध्यानगतमानसः ॥५॥
शोध्याध्वानं ततो देहे पूर्वोक्तमनुचिन्तयेत् ।
ततः संशोध्य वस्तूनि शक्त्यैवामृततां नयेत् ॥६॥
परासंपुटमध्यस्थां मालिनीं सर्वकर्मसु ।
योजयेत् विधानज्ञः परां वा केवलां प्रिये ॥७॥
गणेशं पूजयित्वा तु पुरा विघ्नप्रशान्तये ।
ततः स्वगुरुमारभ्य पूजयेद्गुरुपद्धतिम् ॥८॥
गणेशाधः ततः सर्वं यजेन्मन्त्रकदम्बम् ।
तत्पतीनां ततोऽर्थं च तत्रैव परिपूजयेत् ॥९॥
अन्त्याधः पूजयेद्विद्यां तद्वद्विद्यां महेश्वरीम् ।
मन्त्रविद्यागणस्यान्तः कुलशक्ति निवेशयेत् ॥१०॥
पूर्वयाम्यापरोदक्षु माहेश्यादिचतुष्टयम् ।
इन्द्राणीपूर्वकं तद्वदैशादिदल अन्तगम् ॥११॥

तत्रोपरि न्यसेद्देवं कूटरूपाणुनामुना ।
जीवं दण्डसमाक्रान्तं शूलस्योपरि संस्थितम् ॥१२॥
दक्षाङ्गुलिं ततोऽधस्तात्ततो वामपयोधरम् ।
नाभिकण्ठौ ततोऽधस्ताद्वामस्कन्धविभूषणौ ॥१३॥
शिवजिह्वान्वितः पश्चात्तादूर्ध्वोष्ठेन चोपरि ।
सर्वयोगिनिचक्राणामधिपोऽयमुदाहृतः ॥१४॥
अस्याप्युच्चारणादेव संवित्तिः स्यात्परोदिता ।
ततो वीराष्टकं पश्चाच्छक्त्युक्तविधिना यजेत् ॥१५॥
प्रभूतैर्विविधैरिष्ट्वा गन्धधूपैः स्रगादिभिः ।
श्रीकारपूर्वकं नाम पादान्तं परिकल्पयेत् ॥१६॥
ततः शिष्यं समाहूय बहुधा सुपरीक्षितम् ।
रुद्रशक्त्या तु संप्रोक्ष्य देवाग्रे विनिवेशयेत् ॥१७॥
भुजौ तस्य समालोक्य रुद्रशक्त्या प्रदीपयेत् ।
तथैवाप्यर्पयेत्पुष्पं करयोर्गन्धदिग्धयोः ॥१८॥
निरालम्बौ तु तौ ध्यात्वा शक्त्याकृष्टौ विचिन्तयेत् ।
शक्तिमन्त्रितनेत्रेण बद्ध्वा नेत्रे तु पूर्ववत् ॥१९॥
ततः प्रक्षेपयेत्पुष्पं सा शक्तिस्तत्करस्थिता ।
यत्र तत्पतते पुष्पं तत्कुलं तस्य लक्षयेत् ॥२०॥
मुखमुद्घाट्य तं पश्चात्पादयोः प्रतिपातयेत् ।
ततोऽस्य मस्तके चक्रं हस्तयोश्चार्च्य योगवित् ॥२१॥
तद्धस्तौ प्रेरयेच्छक्त्या यावन्मूर्धान्तमागतौ ।
शिवहस्तविधिः प्रोक्तः सद्यःप्रत्ययकारकः ॥२२॥
चरुकं दापयेत्पश्चात् खर्जूरादिफलोद्भवम् ।
शक्त्यालम्बां तनुं कृत्वा स्थापयेदग्रतः शिशोः ॥२३॥
पुष्पक्षेपप्रयोगेन हस्तमाकृष्य दक्षिणम् ।
चरुकं ग्राहयेन्मन्त्री तद्ध्यानगतमानसः ॥२४॥

शिवहस्तप्रयोगेन समारोप्य मुखं नयेत् ।
अनेनैव विधानेन क्षीरवृक्षसमुद्भवम् ॥२५॥
दन्तकाष्ठं ददेद्देवि षोडशाङ्गुलमायतम् ।
एतेषां चालनान्मन्त्री शक्तिपातं परीक्षयेत् ॥२६॥
मन्दतीव्रादिभेदेन मन्दतीव्रादिकाद्बुधः ।
इत्ययं समयी प्रोक्तः संस्थितोक्तेन वर्त्मना ॥२७॥
चिकीर्षुश्च यदा दीक्षामस्यैवार्पितमानसः ।
तदिष्ट्वा पूर्ववद्योगी कुलेशं तमनुक्रमात् ॥२८॥
संपूज्य पूर्ववच्छिष्यमृजुदेहे विलोकयेत् ।
शक्तिं संचिन्त्य पादाग्रान्मस्तकान्तं विचक्षणः ॥२९॥
शोध्याध्वानं ततो न्यस्य सर्वाध्वव्याप्तिभावनाम् ।
शक्तितत्त्वादिभेदेन पूर्वोक्तेन च वर्त्मना ॥३०॥
उपविश्य ततस्तस्य विधानमिदमाचरेत् ।
मूलशोध्यात्समारभ्य शक्तिं दीप्तानलप्रभाम् ॥३१॥
योजयेच्छोध्यसंशुद्धिभावनागतमानसः ।
एवं सर्वाणि शोध्यानि निर्दहन्तीमनामयाम् ॥३२॥
शिवे संचिन्तयेल्लीनां निष्कले सकलेऽपि वा ।
योगिना योजिता मार्गे स्वजातीयस्य पोषणम् ॥३३॥
कुरुते निर्दहत्यन्यद्भिन्नजातिकदम्बकम् ।
अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः ॥३४॥
लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिकमादरात् ।
आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चमो ॥३५॥
एवमाविष्टया शक्त्या मन्दतीव्रादिभेदतः ।
पाशस्तोभपशुग्राहौ प्रकुर्वीत यथेच्छया ॥३६॥
गृहीतस्य पुनः कुर्यान्नियोगं शेषभुक्तये ।
अथवा कस्यचिन्नायमावेशः संप्रजायते ॥३७॥

तदेनं युगपच्छक्त्या सबाह्याभ्यन्तरे दहेत् ।
तया संदह्यमानोऽसौ च्छिन्नमूल इव द्रुमः ।।३८।।
पतते काश्यपीपृष्ठे आक्षेपं वा करोत्यसौ ।
यस्य त्वेवमपि स्यान्न तं चैवोपलवत्त्यजेत् ।।३९।।
पृथक्तत्त्वविधौ दीक्षां योग्यतावश्यवर्तिनः ।
तत्त्वाभ्यासविधानेन वक्ष्यमाणेन कारयेत् ।।४०।।
इति संदीक्षितस्यास्य मुमुक्षोः शेषवर्तनम् ।
कुलक्रमेष्टिरादेश्या पञ्चावस्थासमन्विता ।।४१।।
बुभुक्षोस्तु प्रकुर्वीत सम्यग्योगाभिषेचनम् ।
तत्रेष्ट्वा पूर्ववद्देहं विस्तीर्णैर्विबुधैर्बुध (?) ।।४२।।
हेमादिदीपकानष्टौ घृतेनारुणवर्तिकान् ।
कुलाष्टकेन संबोध्य शिवं शङ्खे प्रपूजयेत् ।।४३।।
सर्वरत्नौषधीगर्भे गन्धाम्बुपरिपूरिते ।
तेनाभिषेचयेत्तं तु शिवहस्तोक्तवर्त्मना ।।४४।।
आचार्यस्याभिषेकोऽयमधिकारपदान्वितः ।
कुर्यात्पिण्डादिभिस्तद्वच्चतुःषष्टिं प्रदीपकान् ।।४५।।
अभिषिक्तविधावेव सर्वयोगिगणेन तु ।
विदितौ भवतस्तत्र गुरुर्मोक्षप्रदो भवेत् ।।४६।।
अनयोः कथयेज्ज्ञानं त्रिविधं सर्वमप्यलम् ।
स्वकीयाज्ञां ददेद्योगी स्वक्रियाकरणं प्रति ।।४७।।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे दीक्षाधिकार एकादशः ।।११।।

अथ द्वादशोऽधिकारः

अथैतां देवदेवस्य श्रुत्वा वाचमतिस्फुटाम् ।
प्रहर्षोत्फुल्लनयना जगदानन्दकारिणी ॥१॥
संतोषामृतसंतृप्ता देवी देवगणार्चिता ।
प्रणम्यान्धकहन्तारं पुनराहेति भारतीम् ॥२॥

पूर्वमेव त्वया प्रोक्तं योगी योगं समभ्यसेत् ।
तस्याभ्यासः कथं कार्यः कथ्यतां त्रिपुरान्तक ॥३॥
एवमुक्तो जगद्धात्र्या भैरवो भयनाशनः ।
प्राह प्रसन्नगम्भीरां गिरमेतामुदारधीः ॥४॥
योगाभ्यासविधिं देवि कथ्यमानं मया शृणु ।
स्थिरीभूतेन येनेह योगी सिद्धिमवाप्स्यति ॥५॥

गुहायां भूगृहे वापि निःशब्दे सुमनोरमे ।
सर्वाबाधाविनिर्मुक्ते योगी योगं समभ्यसेत् ॥६॥
जितासनो जितमना जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
जितनिद्रो जितक्रोधो जितोद्वेगो गतव्यथः ॥७॥
लक्ष्यभेदेन वा सर्वमथवा चित्तभेदतः ।
धरादिशक्तिपर्यन्तं योगीशस्तु प्रसाधयेत् ॥८॥

व्योमविग्रहविन्द्वर्णभुवनध्वनिभेदतः ।
लक्ष्यभेदः स्मृतः षोढा यथावदुपदिश्यते ॥९॥

बाह्याभ्यन्तरभेदेन समुच्चयकृतेन च ।
त्रिविधं कीर्तितं व्योम दशधा बिन्दुरिष्यते ॥१०॥
कदम्बगोलकाकारः स्फुरत्तारकसंनिभः ।
शुक्लादिभेदभेदेन एकोऽपि दशधा मतः ॥११॥

चिञ्चिनीचीरवाकादिप्रभेदाद्दशधा ध्वनिः ।
विग्रहः स्वाणुभेदाच्च द्विधा भिन्नोऽप्यनेकधा ॥१२॥
भुवनानां न संख्यास्ति वर्णानां सा शताधिका ।
एकस्मिन्नपि साध्ये वै लक्षेदत्रानुषङ्गतः ॥१३॥
अन्यान्यपि फलानि स्युर्लक्ष्यभेदः स उच्यते ।
एकमेव फलं यत्र चित्तभेदस्त्वसौ मतः ॥१४॥
होमदीक्षानिशुद्धात्मा समावेशोपदेशवान् ।
यं सिषाधयिषुर्योगमादावेव समाचरेत् ॥१५॥
हस्तयोस्तु पराबीजं न्यस्य शक्तिमनुस्मरेत् ।
महामुद्राप्रयोगेन विपरीतविधौ बुधः ॥१६॥
ज्वलद्वह्निप्रतीकाशं पादाग्रान्मस्तकान्तिकम् ।
नमस्कारं ततः पश्चाद्बद्ध्वा हृदि धृतानिलः ॥१७॥
स्वरूपेण पराबीजमतिदीप्तमनुस्मरेत् ।
तस्य मात्रात्रयं ध्यायेत्कखत्रयविनिर्गतम् ॥१८॥
ततस्तालशताद्योगी समावेशमवाप्नुयात् ।
ब्रह्मघ्नोऽपि हि सप्ताहात्प्रतिवासरमभ्यसेत् ॥१९॥
एवमाविष्टदेहस्तु यथोक्तं विधिमाचरेत् ।
यः पुनर्गुरुणैवादौ कृतावेशविधिक्रमः ॥२०॥
स वासनानुभावेन भूमिकाजयमारभेत् ।
गणनाथं नमस्कृत्य संस्मृत्य त्रिगुरुक्रमम् ॥२१॥
सम्यगाविष्टदेहः स्यादिति ध्यायेदनन्यधीः ।
स्वदेहं हेमसंकाशं तुर्याश्रं वज्रलञ्छितम् ॥२२॥
ततो गुरुत्वमायाति सप्तविंशतिभिर्दिनैः ।
दिवसात्सप्तमादूर्ध्वं जडता चास्य जायते ॥२३॥
षड्भिर्मासैर्जितव्याधिर्द्रुतहेमनिभो भवेत् ।
वज्रदेहस्त्रिभिश्चाब्दैर्नवनागपराक्रमः ॥२४॥

एषा ते पार्थिवी शुद्धा धारणा परिकीर्तिता।
आद्या पूर्वोदिते देवि भेदे पञ्चदशात्मके ॥२५॥
सव्यापारं स्मरेद्देहं द्रुतहेमसमप्रभम्।
उपविष्टं च तुर्याश्रे मण्डले वज्रभूषिते ॥२६॥
सप्ताहाद्गुरुतामेति मासाद्व्याधिविवर्जितः।
षड्भिर्मासैर्धरान्तःस्थं सर्वं जानाति तत्त्वतः ॥२७॥
त्रिभिरब्दैर्महीं भुङ्क्ते सप्ताम्भोनिधिमेखलाम्।
द्वितीयः कथितो भेदस्तृतीयमधुना शृणु ॥२८॥
तद्वदेव स्मरेद्देहं किंतु व्यापारवर्जितम्।
पूर्वोक्तं फलमाप्नोति तद्वत्पातालसंयुतम् ॥२९॥
चतुर्थे हृद्गतं ध्यायेद्द्वादशाङ्गुलमायतम्।
पूर्ववर्णस्वरूपेण सव्यापारमतन्द्रितः ॥३०॥
प्राप्य पूर्वोदितं सर्वं पातालाधिपतिर्भवेत्।
तदेव स्थिरमाप्नोति निर्व्यापारे तु पञ्चमे ॥३१॥
स्फुरत्सूर्यनिभं पीतं षष्ठे कृष्णं घनावृतम्।
निस्तरङ्गं स्मरेत्तद्वत्सप्तमेऽपि विचक्षणः ॥३२॥
द्वयेऽप्यत्र स्थिरीभूते भूर्भुवःस्वरिति त्रयम्।
वेत्ति भुङ्क्ते च लोकानां पुरोक्तैरेव वत्सरैः ॥३३॥
सकलं हृदयान्तस्थमात्मानं कनकप्रभम्।
स्वप्रभाद्योतिताशेषदेहान्तमनुचिन्तयेत् ॥३४॥
सव्यापारादिभेदेन सप्तलोकीं तु पूर्ववत्।
वेत्ति भुङ्क्ते स्थिरीभूते भेदेऽस्मिन्नवमे बुधः ॥३५॥
रविबिम्बनिभं पीतं पूर्ववद्द्वितयं स्मरेत्।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥३६॥
अधः प्रकाशितं पीतं द्विरूपं पूर्ववन्महत्।
चिन्तयेन्मत्समो भूत्वा मल्लोकमनुगच्छति ॥३७॥

सबाह्याभ्यन्तरं पीतं तेजः सर्वप्रकाशकम् ।
चिन्तयेच्छतरुद्राणामधिपत्वमवाप्नुयात् ॥३८॥
इत्येदं पृथिवीतत्त्वमभ्यस्यं दशपञ्चधा ।
योगिभिर्योगसिद्ध्यर्थं तत्फलानां बुभुक्षया ॥३९॥
योग्यतावशसंजाता यस्य यत्रैव वासना ।
स तत्रैव नियोक्तव्यो दीक्षाकाले विचक्षणैः ॥४०॥
यो यत्र योजितस्तत्त्वे स तस्मान्न निवर्तते ।
तत्फलं सर्वमासाद्य शिवयुक्तोऽपवृज्यते ॥४१॥
अयुक्तोऽप्यूर्ध्वसंशुद्धिसंप्राप्तभुवनेशतः ।
शुद्धाच्छिवत्वमायाति दग्धसंसारबन्धनः ॥४२॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे प्रथमधारणाधिकारो द्वादशः ॥१२॥

अथ त्रयोदशोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणां वारुणीमिमाम् ।
यया संसिद्धयोगेन जलान्ताधिपतिर्भवेत् ॥१॥
जलान्तःस्थं स्मरेद्देहं सितं शीतं सुवर्तुलम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं योगी नान्यदस्तीति चिन्तयेत् ॥२॥
एवमभ्यस्यतस्तस्य सप्ताहात्क्लिन्नता भवेत् ।
पित्तव्याधिपरित्यक्तो मासेन भवति ध्रुवम् ॥३॥
स्निग्धाङ्गः स्निग्धदृष्टिश्च नीलकुञ्चितमूर्धजः ।
भवत्यब्देन योगिन्द्रस्त्रिभिर्वर्षति मेघवत् ॥४॥
इत्येषा वारुणी प्रोक्ता प्रथमा शुद्धधारणा ।
अधुना संप्रवक्ष्यामि भेदैर्भिन्नामिमां पुनः ॥५॥
पूर्ववच्चिन्तयेद्देवं सव्यापारं सितं स्वकम् ।
जलोपरि स्थितं देवि तद्गतेनान्तरात्मना ॥६॥
सप्ताहान्मुच्यते रोगैः सर्वैः पित्तसमुद्भवैः ।
षण्मासाज्जायते स्थैर्यं यदि तन्मयतां गतः ॥७॥
जलावरणविज्ञानमब्दैरस्य त्रिभिर्भवेत् ।
निर्व्यापारप्रभेदेऽपि सर्वत्र वरुणोपमः ॥८॥
स याति वारुणं तत्त्वं भूमिकां क्रमशोऽभ्यसेत् ।
पूर्ववत्कण्ठमध्यस्थमात्मानं द्वादशाङ्गुलम् ॥९॥
संस्मरञ्जलतत्त्वेशं प्रपश्यत्यचिराद्ध्रुवम् ।
तद्दृष्टिः स्थिरतामेति स्वरूपे पञ्चमे स्थिरे ॥१०॥
द्विभेदेऽपि स्थिरीभूते चन्द्रबिम्बे घनावृते ।
तत्समानत्वमभ्येति ततः सकलरूपिणी ॥११॥

चिन्त्यते देहमापूर्य सितवर्णेन तेजसा ।
तदेव स्थिरतामेति तत्र सुस्थिरतां गते ॥१२॥
घनमुक्तेन्दुबिम्बाभस्ततः समनुचिन्तयेत् ।
तत्पतित्वं समभ्येति द्वितीयं स्थिरतां व्रजेत् ॥१३॥
अतः प्रकाशकं शुक्लं ततस्तेजो विचिन्तयेत् ।
विद्येश्वरत्वमाप्नोति जलावरणसंभवम् ॥१४॥
स्वदेहव्यापिनि ध्याते तत्रस्थे शुक्लतेजसि ।
सर्वाधिपत्यमाप्नोति सुस्थिरे तत्र सुस्थिरम् ॥१५॥
ध्येयतत्त्वसमानत्वमवस्थात्रितये स्थिरे ।
द्वितीये च तदीशानसंवित्तिरुपजायते ॥१६॥
द्वितीयेऽन्यत्र तत्तुल्यः स्थिरो भवति योगवित् ।
षट्के सर्वेशतामेति द्वितीयेऽन्यत्र तु च्युतिः ॥१७॥
इत्ययं सर्वतत्त्वेषु भेदे पञ्चदशात्मके ।
ज्ञेयो विधिर्विधानज्ञैः फलपञ्चकसिद्धिदः ॥१८॥
तत्फलान्तरमेतस्मादुक्तं यच्चापि वक्ष्यते ।
अनुषङ्गफलं ज्ञेयं तत्सर्वमविचारतः ॥१९॥
इत्येवं वारुणी प्रोक्ता प्रभेदैर्दशपञ्चभिः ।
योगिनां योगसिद्ध्यर्थमाग्नेयीमधुना शृणु ॥२०॥
त्रिकोणं चिन्तयेद्देहं रक्तज्वालावलीधरम् ।
सप्तभिर्दिवसैर्देवि तैक्ष्ण्यमस्योपजायते ॥२१॥
वातश्लेष्मभवैः सर्वैर्मासान्मुच्यति साधकः ।
निद्राहीनश्च बह्वाशी स्वल्पविण्मूत्रकृद्भवेत् ॥२२॥
इच्छया निर्दहत्यन्यत्स्पष्टवस्तु ऋतुक्षयात् ।
त्र्यब्दादग्निसमो भूत्वा क्रीडत्यग्निर्यथेच्छया ॥२३॥
सर्वं निर्दहति क्रुद्धः सशैलवनकाननम् ।
त्रिकोणमण्डलारूढमात्मानमनुचिन्तयेत् ॥२४॥

सव्यापारादिभेदेन सर्वत्रापि विचक्षणः।
सप्ताहाद्व्याधिभिर्हीनः षण्मासादग्नि साद्भवेत् ॥२५॥
त्रिभिरब्दैः स संपूर्णं तेजस्तत्त्वं प्रपश्यति।
यच्छक्तिभेदे यद्दृष्टं तत्तद्भेदे स्थिरीभवेत् ॥२६॥
पूर्ववत्तालुमध्यस्थमात्मानं ज्वलनप्रभम्।
ध्यायन्प्रपश्यते तेजस्तत्त्वेशानखिलान्क्रमात् ॥२७॥
धूमाक्रान्ताग्निसंकाशं रविबिम्बसमाकृतिम्।
ध्यायंस्तन्मध्यतस्तेजस्तत्त्वेशसमतां व्रजेत् ॥२८॥
प्रभाहततमोजालं विधूमाग्निसमप्रभम्।
तत्रैव सकलं ध्यायेत्तत्पतित्वमवाप्नुयात् ॥२९॥
दिवसाग्निप्रभाकारं तत्र तेजो विचिन्तयेत्।
तन्मन्त्रेश्वरतामेति तत्र सुस्थिरतां गते ॥३०॥
मणिप्रदीपसंकाशं तेजस्तत्र प्रकाशयेत्।
मन्त्रेशेशत्वमभ्येति योगी तन्मयतां गतः ॥३१॥
सबाह्याभ्यन्तरं तेजो ध्यायन्सर्वत्र तद्गतम्।
तस्मान्न च्यवते स्थानादासंहारमखण्डितः ॥३२॥
संहारे तु परं शान्तं पदमभ्येति शाङ्करम्।
इत्येषा पञ्चदशधा कथिता वह्निधारणा ॥३३॥
स्वदेहं चिन्तयेत्कृष्णं वृत्तं षट्बिन्दुलाञ्छितम्।
चलं सचूचूशब्दं च वायवीं धारणां श्रितः ॥३४॥
चलत्वं कफजव्याधिविच्छेदाद्वायुवद्भवेत्।
षण्मासमभ्यसेद्योगी तद्गतेनान्तरात्मना ॥३५॥
योजनानां शतं गत्वा मुहूर्तादित्यखेदतः।
वत्सरैस्तु त्रिभिः साक्षाद्वायुरूपधरो भवेत् ॥३६॥
चूर्णयत्यद्रिसंघातं वृक्षानुन्मूलयत्यपि।
क्रुद्धश्चानयते शक्रं सभृत्यबलवाहनम् ॥३७॥

नीलाञ्जननिभं देहमात्मीयमनुचिन्तयेत् ।
पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति षण्मासान्नात्र संशयः ॥३८॥
त्र्यब्दात्प्रपश्यते वायुतत्त्वं तन्मयतां गतः ।
भ्रुवोर्मध्ये स्मरेद्रूपमात्मनोऽञ्जनसंनिभम् ॥३९॥
पश्यते वायुतत्त्वेशानाशुगानखिलानपि ।
घनावृतेन्द्रनीलाभो रविबिम्बसमाकृतिम् ॥४०॥
ध्यायंस्तत्समतामेति तत्संलीनो यदा भवेत् ।
भिन्नेन्द्रनीलसंकाशं सकलं तत्र चिन्तयेत् ॥४१॥
तन्मन्त्रेशत्वमाप्नोति ततस्तस्येशतामपि ।
सर्वव्यापिनि तद्वर्णे ध्याते तेजस्यवाप्नुयात् ॥४२॥
तदाप्रधृष्यतामेति तत्रोर्ध्वाधोविसर्पिणि ।
इत्येवं कथिता दिव्या धारणा वायुसंभवा ॥४३॥
स्वदेहं वायुबद्ध्यात्वा तदभावमनुस्मरन् ।
दिवसैः सप्तभिर्योगी शून्यतां प्रतिपद्यते ॥४४॥
मासमात्रेण भोगीन्द्रैरपि दष्टो न मुह्यति ।
सर्वव्याधिपरित्यक्तो वलीपलितर्जितः ॥४५॥
षण्मासाद्गगनाकारः सूक्ष्मरन्ध्रैरपि व्रजेत् ।
वत्सरत्रितयात्सार्धाद्व्योमवच्च भविष्यति ॥४६॥
इच्छयैव महाकायः सूक्ष्मदेहस्तथेच्छया ।
अच्छेद्यश्चाप्यभेद्यश्च छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥४७॥
शतपुष्परसोच्छिष्टमूषागर्भखवन्निजम् ।
देहं चिन्तयतस्त्र्यब्दाद्व्योमज्ञानं प्रजायते ॥४८॥
पूर्वोक्तं च फलं सर्वं सप्ताहादिकमाप्नुयात् ।
ललाटे चिन्तयेत्तद्वद्द्वादशाङ्गुलमायतम् ॥४९॥
तत्तत्त्वेशान्क्रमात्सर्वान्प्रपश्यत्यग्रतः स्थितान् ।
राहुग्रस्तेन्दुबिम्बाभं ध्यायंस्तत्समतां व्रजेत् ॥५०॥

सकलं चन्द्रबिम्बाभं तत्रस्थमनुचिन्तयेत् ।
तन्मन्त्रेशत्वमाप्नोति ज्योत्स्नया चन्द्रतामपि ॥५१॥
तयैवाधोविसर्पिण्या सबाह्याभ्यन्तरं बुधः ।
मन्त्रेश्वरेशतामाप्य विज्ञानमतुलं लभेत् ॥५२॥
तया चोर्ध्वविसर्पिण्या ज्योत्स्नयामृतरूपया ।
स्वतन्त्रत्वमनुप्राप्य न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥५३॥
इत्येवं पञ्चतत्त्वानां धारणा परिकीर्तिता ।
शुद्धाध्वस्था तु संवित्तिर्भूतावेशोऽत्र पञ्चधा ॥५४॥
तास्वेव संदधच्चित्तं विषादिक्षयमात्मनः ।
अन्तस्यामपि संवित्तौ यस्यामेव निजेच्छया ॥५५॥
चेत; सम्यक्स्थिरीकुर्यात्तया तत्फलमश्नुते ।
एकापि भाव्यमानेयमवान्तरविभेदतः ॥५६॥
अन्तरायत्वमभ्येति तत्र कुर्यान्न संस्थितिम् ।
संस्थितिं तत्र कुर्वन्तो न प्राप्स्यन्त्युत्तमं फलम् ॥५७॥
धारणापञ्चके सिद्धे पिशाचानां गुणाष्टकम् ।
ऐन्द्रान्ताः पञ्च सिद्धयन्ति योगिनां भेदतोऽपि वा ॥५८॥
इष्टाः पञ्चदशावस्थाः क्रमेणैव समभ्यसन् ।
त्र्यब्दादाद्यां प्रसाध्यान्यां द्वाभ्यामेकेन चापराम् ॥५९॥
षण्मासात्पञ्चभिश्चान्यां चतुर्भि स्त्रिभिरेव च ।
द्वाभ्यामेकेन पक्षेण दशभिः पञ्चभिर्दिनैः ॥६०॥
त्रिभिर्द्वाभ्यामथैकेन व्यस्तेच्छोः पूर्ववत्क्रमः ।
शाश्वतं पदमाप्नोति भुक्त्वा सिद्धिं यथेप्सिताम् ॥६१॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे भूतजयाधिकारस्त्रयोदशः ॥१३॥

अथ चतुर्दशोऽधिकारः

अथ गन्धादिपूर्वाणां तन्मात्राणामनुक्रमात् ।
धारणाः संप्रवक्ष्यामि तत्फलानां प्रसिद्धये ॥१॥
पीतकं गन्धतन्मात्रं तुर्याश्रं पर्वसंमितम् ।
नासारन्ध्राग्रगं ध्यायेद्वज्रलाञ्छनलाञ्छितम् ॥२॥
दशमाद्दिवसादूर्ध्वं योगिनोऽनन्यचेतसः ।
कोऽपि गन्धः समायाति द्विधाभूतोऽप्यनेकधा ॥३॥
ततोऽस्य ऋतुमात्रेण शुद्धो गन्धः स्थिरी भवेत् ।
षड्भिर्मासैः स्वयं गन्धमय एव भविष्यति ॥४॥
यो यत्र रोचते गन्धस्तं तत्र कुरुते भृशम् ।
त्र्यब्दात्सिद्धिमवाप्नोति प्रेरितां पाञ्चभौतिकीम् ॥५॥
तदूर्ध्वमात्मनो रूपं तत्र संचिन्तयेद्धृदि ।
गन्धावरणविज्ञानं त्रिभिरब्दैरवाप्नुयात् ॥६॥
इषद्दीप्तियुतं तत्र तन्मण्डलविवर्जितम् ।
ध्यायन्प्रपश्यते सर्वान्गन्धावरणवासिनः ॥७॥
धरातत्त्वोक्तबिम्बाभं तत्रैवमनुचिन्तयन् ।
तत्समानत्वमभ्येति पूर्ववद्द्वितये स्थिरे ॥८॥
स्वरूपं तत्र संचिन्त्य भासयन्तमधःस्थितम् ।
तदीशत्वमवाप्नोति पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥९॥
धरातत्त्वोक्तवत्सर्वमत ऊर्ध्वमनुस्मरन् ।
तद्रूपं फलमाप्नोति गन्धावरणसंस्थितम् ॥१०॥
रसरूपामतो वक्ष्ये धारणां योगिसेविताम् ।
यया सर्वरसावाप्तिर्योगिनः संप्राजायते ॥११॥

जलबुद्बुदसंकाशं जिह्वायां चाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयेद्रसतन्मात्रं जिह्वाग्राधारमात्मनः ॥१२॥
सुशीतं षड्रसं चिन्त्यं तद्गतेनान्तरात्मना ।
ततोऽस्य मासमात्रेण रसास्वादः प्रवर्तते ॥१३॥
लवणादीन्परित्यज्य यदा मधुरतां गतः ।
तदा तन्निगिरन्योगी षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ॥१४॥
जराव्याधिविनिर्मुक्तः कृष्णकेशोऽच्युतद्युतिः ।
जीवेदाचन्द्रतारार्कमध्यस्यंश्च क्वचित्क्वचित् ॥१५॥
पूर्वोक्तबुद्बुदाकारं स्वरूपमनुचिन्तयन् ।
नीरावरणविज्ञानमाप्नोतीति किमद्भुतम् ॥१६॥
तमेव द्युतिसंयुक्तं ध्यायन्नाधारवर्जितम् ।
पश्यते वत्सरैः सर्वं रसावरणमाश्रितम् ॥१७॥
जलतत्त्वोक्तबिम्बादि तदूर्ध्वमनुचिन्तयन् ।
पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति रसावरणजं स्फुटम् ॥१८॥
अतो रूपवतीं वक्ष्ये दिव्यदृष्टिप्रदां शुभाम् ।
धारणां सर्वसिद्ध्यर्थं रूपतन्मात्रमाश्रिताम् ॥१९॥
एकान्तस्थो यदा योगी विनिमीलितलोचनः ।
शरत्संध्याभ्रसंकाशं यत्तु किंचित्प्रपश्यति ॥२०॥
तत्र चेतः समाधाय यावदास्ते दशाहकम् ।
तावत्प्रपश्यते तत्र बिन्दून्सूक्ष्मतमानपि ॥२१॥
केचित्तत्र सिता रक्ताः पीता नीलास्तथा परे ।
तान्दृष्ट्वा तत्र संदध्यान्मनोऽत्यन्तमनन्यधीः ॥२२॥
षण्मासात्पश्यते तेषु रूपाणि सुबहून्यपि ।
त्र्यब्दात्तान्येव तेजोभिः प्रदीप्तानि स्थिराणि च ॥२३॥
तान्यभ्यस्यंस्ततो द्व्यब्दाद्बिम्बाकाराणि पश्यति ।
ततोऽब्दात्पश्यते तेजः षण्मासात्पुरुषाकृति ॥२४॥

त्रिमासाद्व्यापकं तेजो मासात्सर्वं विसर्पितम् ।
कालक्रमाच्च पूर्वोक्तं रूपावरणमाश्रितम् ॥२५॥
तत्सर्वं फलमाप्नोति दिव्यदृष्टिश्च जायते ।
इतीयं कल्पनाशून्या धारणा कृतकोदिता ॥२६॥
दशपञ्चविधो भेदः स्वयमेवात्र जायते ।
यतोऽस्यां निश्चयं कुर्यात्किमन्यैः शास्त्रडम्बरैः ॥२७॥
अतः स्पर्शवतीमन्यां कथयामि तवाधुना ।
धारणां तु यया योगी वज्रदेहः प्रजायते ॥२८॥
षट्कोणमण्डलान्तःस्थमात्मानं परिभावयेत् ।
रूक्षमञ्जनसंकाशं प्रत्यंशं स्फुरिताकुलम् ॥२९॥
ततोऽस्य दशभिर्देवि दिवसैस्त्वचि सर्वतः ।
भवेत्पिपीलिकास्पर्शस्ततस्तमनुचिन्तयन् ॥३०॥
वज्रदेहत्वमासाद्य पूर्वोक्तं पूर्ववल्लभेत् ।
पूर्वोक्तमण्डलाकारं पूर्वरूपं विचिन्तयन् ॥३१॥
स्पर्शतत्त्वावृतिज्ञानं लभन्केन निवार्यते ।
हीनमण्डलमात्मानं ध्यायेत्तत्पतिसिद्धये ॥३२॥
यया संसिद्धया सर्वस्पर्शवेदी भविष्यति ।
कर्णौ पिधाय यत्नेन निमीलितविलोचनः ॥३३॥
यं शृणोति महाघोषं चेतस्तत्रानुसन्धयेत् ।
दीप्यते जाठरो वह्निस्ततोऽस्य दशभिर्दिनैः ॥३४॥
दूराच्छ्रवणविज्ञानं षण्मासादुपजायते ।
यस्तस्यान्ते ध्वनिर्मन्दः किंचित्किंचिद्विभाव्यते ॥३५॥
सकलात्मा स विज्ञेयस्तदभ्यासादनन्यधीः ।
शब्दावरणविज्ञानमाप्नोति स्थिरतां गतम् ॥३६॥
यः पुनः श्रूयते शब्दस्तदन्ते शंखनादवत् ।
प्रलयाकलरूपं तदभ्यस्यं तत्फलेप्सुभिः ॥३७॥

स एवातितरामन्यशब्दप्रच्छादको यदा ।
विज्ञानाकल इत्युक्तस्तदासावपराजिते ॥३८॥
मनोह्लादकरो योऽन्यस्तदन्ते संविभाव्यते ।
स मन्त्र इति विज्ञेयो योगिभिर्योगकाङ्क्षिभिः ॥३९॥
ततस्तु श्रूयते योऽन्यः शान्तघण्टानिनादवत् ।
स मन्त्रेश इति प्रोक्तः सर्वसिद्धिफलप्रदः ॥४०॥
घण्टानादविरामान्ते यः शब्दः संप्रजायते ।
मन्त्रेशेशपदं तद्धि सिद्धीनां कारणं महत् ॥४१॥
अनिलेनाहता वीणा यादृङ्नादं विमुञ्चति ।
तादृशो यो ध्वनिस्तत्र तं विद्याच्छांभवं पदम् ॥४२॥
पृथग्वा क्रमशो वापि सर्वानेतान्समभ्यसेत् ।
प्राप्नोति सर्ववित्सिद्धीः शब्दावरणमाश्रिताः ॥४३॥
इत्येताः कथिताः पञ्च तन्मात्राणां तु धारणाः ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे तन्मात्रधारणाधिकारश्चतुर्दशः ॥१४॥

•

अथ पञ्चदशोऽधिकारः

अथ वागिन्द्रियादीनां मनोन्तानामनुक्रमात् ।
धारणाः संप्रवक्ष्यामि दशैकां च समासतः ॥१॥

वदनान्तं नमःशब्दमात्मनश्चिन्तयेद्बुधः ।
गृहीतवाक्त्वमभ्येति मौनेन मधुसूदनि ॥२॥

सर्वत्रास्खलिता वाणी षड्भिर्मासैः प्रवर्तते ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वं वत्सरादुपजायते ॥३॥

वागेवास्य प्रतर्तेत काव्यालङ्कारभूषिता ।
त्रिभिरब्दैः स्वयं कर्ता शास्त्राणां संप्रजायते ॥४॥

तत्रैव चिन्तयेद्देहं स्वकीयमनुरूपतः ।
भूयस्तमेव धवलमीषत्तेजोवभासितम् ॥५॥

रसान्तःसोमबिम्बादितेजोन्तं तमनुस्मरेत् ।
सर्वं फलमवाप्नोति वागावरणजं क्रमात् ॥६॥

पाणौ च तं समादाय षण्मासाद्दूरसंस्थितम् ।
वस्तु गृह्णात्यसंदेहात्त्र्यब्दात्पारेऽपि वारिधेः ॥७॥

तत्रात्मदेहंपूर्वं तु पद्माभमनुचिन्तयन् ।
सव्यापारादिभेदेन चतुर्दशकमादरात् ॥८॥

पूर्वोक्तकालनियमात्पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ।
सर्वं फलमवाप्नोति हस्तावृतिसमाश्रितम् ॥९॥

पादावेवंविधो ध्यायन्वत्सरत्रयमादरात् ।
मुहूर्तेन समुद्रान्तामश्रान्तो भ्रमति क्षितिम् ॥१०॥

चतुर्दश समभ्यर्च्य स्वदेहादिकमभ्यसन् ।
प्राप्नोति पूर्ववत्सर्वंफलं पादावृतिस्थितम् ॥११॥

पायावपि मनस्तत्त्वं स्थिरीकुर्वन्नवाप्स्यति ।
मासेन तद्भवव्याधिविमुक्तिमविलम्बतः ॥१२॥
पुण्यश्लोकत्वमाप्नोति त्रिभिरब्दैरनादरात् ।
चतुर्दशविधं चात्र पूर्ववत्फलमाप्स्यति ॥१३॥
स्वरूपतः स्मरेल्लिङ्गं मासमात्राज्जितेन्द्रियः ।
षड्भिर्मासैरनायासादिच्छाकामित्वमाप्नुयात् ॥१४॥
चतुर्दशविधे भेदे तत्राभ्यस्ते महामतिः ।
लिङ्गावरणजं सर्वं पूर्ववल्लभते फलम् ॥१५॥
स्वजिह्वामिन्दुवर्णाभां चिन्तयेद्दशभिर्दिनैः ।
प्राप्नोत्यनुभवं योगी जिह्वाभवमिवात्मनः ॥१६॥
आस्वादयति दूरस्थं षण्मासादेकमानसः ।
वत्सरैस्तु त्रिभिः साक्षाल्लेढ्यसौ परमामृतम् ॥१७॥
येनासौ भवति योगी जरामरणवर्जितः ।
अपेयादिप्रसक्तोऽपि न पापैः परिभूयते ॥१८॥
पूर्ववत्सर्वमन्यच्च स्वदेहाद्यनुचिन्तयन् ।
फलमाप्नोत्यसंदेहाद्रसनावृतिसंभवम् ॥१९॥
कनकाभं स्वकं घ्राणमनुचिन्तयतः शनैः ।
दिवसैर्दशभिर्घ्राणशून्यतानुभवो भवेत् ॥२०॥
षण्मासाद्गन्धमाघ्राति दूरस्थस्यापि वस्तुनः ।
घातयेद्गन्धमाघ्राय यस्य दुष्टो भविष्यति ॥२१॥
वत्सरैस्तु त्रिभिर्दिव्यं गन्धमासाद्य योगवित् ।
जरामरणनैर्गुण्ययुक्तो दिव्यत्वमर्हति ॥२२॥
सर्वमन्यद्यथोद्दिष्टं तथैव च विचिन्तयेत् ।
क्रमिकं फलमाप्नोति घ्राणावरणमास्थितम् ॥२३॥
उदयादित्यसंकाशे चिन्तयंश्चक्षुषी निजे ।
दशाहाच्चक्षुषो रक्तस्रावानुभवमाप्स्यति ॥२४॥

वेदना महती चास्य ललाटे संप्रजायते।
न भेतव्यं महादेवि न चाभ्यासं परित्यजेत् ॥२५॥
संत्यजन्नन्धतामेति तेन यत्नात्समभ्यसेत्।
षड्भिर्मासैर्महायोगी दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥२६॥
छिद्रां प्रपश्यते भूमिं कटाहान्तामतन्द्रितः।
आध्रुवान्तमथोर्ध्वं च करामलकवद्बुधः ॥२७॥
वत्सरैस्तु त्रिभिर्योगी ब्रह्माण्डान्तं प्रपश्यति।
तदन्तर्योगिनीज्ञानं शरीरस्थं प्रजायते ॥२८॥
स्वदेहादिकमन्यच्च पूर्वोक्तं पूर्ववत्स्मरन्।
नयनावृतिजं सर्वमाप्नोतीति किमद्भुतम् ॥२९॥
सर्वत्राञ्जनपत्राभां निस्तरङ्गां त्वचं स्मरन्।
शस्त्रैरपि न मासेन हन्तुं शक्यो भविष्यति ॥३०॥
षण्मासादतितीव्रेण नाग्निनाप्येष दह्यते।
वत्सरत्रितयाद्योगी वज्रोपलविषादिभिः ॥३१॥
पीड्यते न कदाचित्स्यादजरामरतां गतः।
स्पर्शावृतिजविज्ञानगीतवच्च चतुर्दश ॥३२॥
भेदाः सह फलैर्ज्ञेयाः पूर्वकालानुसारतः।
किंत्वत्र चिन्तयेद्देहं स्वदेहादिभिरावृतम् ॥३३॥
संदधानः स्वकं चेतः श्रोत्राकाशे विचक्षणः।
दूराच्छ्रवणविज्ञानं षण्मासादुपजायते ॥३४॥
त्रिभिः संवत्सरैर्देवि ब्रह्माण्डान्तरुदीरितम्।
शृणोति स स्फुटं सर्वं जरामरणवर्जितः ॥३५॥
तत्राकाशोक्तवत्सर्वं स्वदेहाद्यनुचिन्तयेत्।
श्रोत्रावरणजं सर्वं फलमाप्नोति पूर्ववत् ॥३६॥
मनोवतीमतो वक्ष्ये धारणां सर्वसिद्धिदाम्।
यया संसिद्धया देवि सर्वसिद्धिफलं लभेत् ॥३७॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
तस्मात्तदभ्यसेन्मन्त्री यदीच्छेन्मोक्षमव्ययम् ॥३८॥
तदर्धचन्द्रसंकाशमधोवक्त्रं हृदि स्थितम् ।
चिन्तयन्मासमात्रेण प्रतिभां प्रतिपत्स्यते ॥३९॥
अकस्मात्पश्यते किंचिदकस्माच्छृणुते तथा ।
सर्वेन्द्रियात्मकं ज्ञानमकस्माच्च क्वचित्कचित् ॥४०॥
स्वस्वकेन्द्रियविज्ञानं संपश्येद्वत्सरत्रयात् ।
भवते योगयूक्तस्य योगिनः सुपरिस्फुटम् ॥४१॥
स्वदेहादिकमप्यत्र पूर्वोक्तवदनुस्मरन् ।
चित्तावरणविज्ञानं प्राप्य सोमगुणं लभेत् ॥४२॥
इत्येकादश गीतानि समभ्यस्यानि ते तथा ।
इन्द्रियाणि, यतः सर्वं फलमेव प्रतिष्ठितम् ॥४३॥
बन्धमोक्षावुभावेताविन्द्रियाणां जगुर्बुधाः ।
विगृहीतानि बन्धाय विमुक्तानि विमुक्तये ॥४॥
एतानि व्यापके भावे यदा स्युर्मनसा सह ।
विमुक्तानीति विद्वद्भिर्ज्ञातव्यानि तदा प्रिये ॥४५॥
यदा तु विषये क्वापि प्रदेशान्तरवर्तिनि ।
संस्थितानि तदा तानि बद्धानीति प्रचक्षते ॥४६॥
इत्ययं द्विविधो भावः शुद्धाशुद्धप्रभेदतः ।
इन्द्रियाणां समाख्यातः सिद्धयोगीश्वरीमते ॥४७॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे धारणाधिकारः पञ्चदशः ॥१५॥

अथ षोडशोऽधिकारः

अथ गर्वमयीं दिव्यां धारणां धारणोत्तमाम् ।
महागर्वकरीं वक्ष्ये योगिनां योगवन्दिते ॥१॥

षोडशारं स्मरेच्चक्रमात्मदेहमनन्यधीः ।
एषोऽहमिति संचिन्त्य स्वकार्यपरिवारितम् ॥२॥

अप्रधृष्यो भवेद्योगी वत्सरत्रितयेन तु ।
ममत्वमच्युतं तस्य भवेत्सर्वत्र कुत्रचित् ॥३॥

तादृग्रूपस्य चक्रस्य नाभि मूर्ति स्वकां स्मरन् ।
चिन्तयेत्सर्वमेवाहं मयि सर्वमवस्थितम् ॥४॥

ततोऽहङ्कारविज्ञानं प्राप्नोतीति किमद्भुतम् ।
हृच्चक्रे समनुध्यायन्मत्स्वरूपमतन्द्रितः ॥५॥

अर्कलोकमवाप्नोति गर्वावरणजं फलम् ।
बिम्बादिकं क्रमात्सर्वं चिन्तयन्नीललोहितम् ॥६॥

तद्भूवं सर्वमाप्नोति दशावस्थाप्रचोदितम् ।
इति गर्वमयी प्रोक्ता प्रजापतिगुणप्रदा ॥७॥

उद्यदादित्यबिम्बाभं हृदि पद्ममनुस्मरन् ।
धर्मादिभावसंयुक्तमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥८॥

मासेन स्थिरबुद्धिः स्यात्षड्भिः श्रुतिधरो भवेत् ।
त्रिभिरब्दैः स्वयं कर्ता शस्त्राणां संप्रजायते ॥९॥

स्वां तत्र चिन्तयेन्मूर्ति बुद्धितत्त्वं प्रपश्यति ।
तदीशज्ञानमाप्नोति ब्रह्माणमनुचिन्तयन् ॥१०॥

वेदानुद्गिरते सप्त ? [सुप्तः] समाधिस्थोऽथवा मुनिः ।
सुस्थिरास्ते सदाभ्यासादनधीता अपि स्फुटम् ॥११॥

बिम्बादिकं क्रमात्सर्वं पूर्वोक्तमनुचिन्तयन् ।
प्राप्नोति ब्राह्ममैश्वर्यं बुद्ध्यावरणमाश्रितम् ॥१२॥
हृदि बिम्बं रवेर्ध्यायंस्तदन्तः सोममण्डलम् ।
एवमभ्यसतस्तस्य षण्मासादुपजायते ॥१३॥
दिव्यचक्षुरनायासात्सिद्धिः स्याद्वत्सरत्रयात् ।
स्वदेहं चिन्तयंस्तत्र गुणज्ञानमवाप्स्यति ॥१४॥
लिङ्गाकारं स्मरन्दीप्तं तदीशत्वमवाप्नुयात् ।
बिम्बादि पूर्ववद्ध्यायन्दशकं दशकात्मकम् ॥१५॥
फलमाप्नोत्यसंदेहाद्गुणावरणसंस्थितम् ।
चतुर्विंशत्यमी प्रोक्ताः प्रत्येकं दशपञ्चधा ॥१६॥
धारणाः क्ष्मादितत्त्वानां समासाद्योगिनां हिताः ।
त्रयोदशात्मके भेदे षडन्याः संस्थिता यथा ॥१७॥
योगिनामनुवर्ण्यन्ते तथा योगप्रसिद्धये ।
देहं मुक्त्वा स्वरूपेण नान्यत् किंचिदिति स्मरेत् ॥१८॥
सितपद्मासनासीनं मण्डलत्रितयोपरि ।
एवमत्र स्थिरीभूते मासमात्रेण योगवित् ॥१९॥
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो भवतीति किमद्भुतम् ।
षण्मासादस्य विज्ञानं जायते पृथिवीतले ॥२०॥
अब्दाज्जरादिनिर्मुक्तस्त्रिभिः पुंस्तत्त्वदृग्भवेत् ।
हृदधःपङ्कजेऽत्रैव द्वादशार्धाङ्गुलां तनुम् ॥२१॥
हृदन्ते भावयेत्स्वान्यां षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ।
त्रिभिरब्दैः समाप्नोति पुंस्तत्त्वेश्वरतुल्यताम् ॥२२॥
बिम्बादौ पूर्ववत्सर्वं तत्र संचिन्तिते सति ।
फलमाप्नोत्यसंदेहात्पुरुषावरणस्थितम् ॥२३॥
एतद्वेदान्तविज्ञानं समासादुपवर्णितम् ।
कपिलस्य पुरा प्रोक्तमेतद्विस्तरशो मया ॥२४॥

शरत्संध्याभ्रसंघाभं स्वदेहमनुचिन्तयन् ।
वीतरागत्वमाप्नोति षड्भिर्मासैर्न संशयः ॥२५॥
जरामरणनिर्मुक्तो वर्षेणैवोपजायते ।
त्र्यब्दाज्ज्ञानमवाप्नोति रागावरणजं महत् ॥२६॥
रक्तं संचिन्तयेद्देहं संपूर्णाभ्रोपरिस्थितम् ।
मासषट्कमनुद्विग्नो वीतरागत्वसिद्धये ॥२७॥
स्मरन्संवत्सरे सम्यङ्मृत्युना न प्रपीड्यते ।
त्रिभिरब्दैर्जितद्वन्द्वो रागे च समतां व्रजेत् ॥२८॥
रक्तपद्मस्थितं रक्तं पञ्चपर्वं हृदावधि ।
ध्यायन्फलमवाप्नोति पूर्वोक्तमखिलं क्रमात् ॥२९॥
बिम्बादि चात्र पूर्वोक्तमनुचिन्तयतो मुहुः ।
फलं भवति निःशेषं रञ्जकावृतिसंभवम् ॥३०॥
हृदि पद्मं सितं ध्यायेद्द्व्यष्टपत्रं सकेसरम् ।
सर्वामृतमयं दिव्यं चन्द्रकल्पितकर्णिकम् ॥३१॥
निश्चलं तत्र संयम्य चेतो निद्रान्तमात्मनः ।
ततो यत्पश्यते स्वप्ने तथ्यं तत्तस्य जायते ॥३२॥
एवमभ्यसतस्तस्य तद्धि पद्मोदितं फलम् ।
सर्वं प्रजायते तस्य तत्कालक्रमयोगतः ॥३३॥
चतुरङ्गुलदेहादि सर्वत्रैवं विचिन्तयन् ।
पूर्ववत्सर्वमाप्नोति विद्यातत्त्वसमुद्भवम् ॥३४॥
हृदयादेकमेकं तु व्यतिक्रम्यार्धमङ्गुलम् ।
पृथक् चक्रत्रयं ध्यायेद्रक्तनीलसितं क्रमात् ॥३५॥
तत्रस्थद्व्येकपर्वं तु पुरुषं तत्समद्युतिम् ।
बिम्बादिकं च यत्प्रोक्तं तत्त्वत्रयमिदं महत् ॥३६॥
त्रयोदशात्मकं भेदमेतदन्तं विदुर्बुधाः ।
एकादशप्रभेदेन तत्त्वद्वयमथोच्यते ॥३७॥

कण्ठकूपावधौ चक्रे पञ्चारे नाभिसंस्थितम् ।
ध्यायेत्स्वरूपमात्मीयं दीप्तनेत्रोपलब्धवत् ॥३८॥
क्षित्यादिकालतत्त्वान्ते यद्वस्तु स्थितमध्वनि ।
सर्वं प्रसाध्य योगीन्द्रो न कालेनाभिभूयते ॥३९॥
बिम्बादिकेऽपि तत्रस्थे योगिनामनुचिन्तिते ।
भवतीति किमाश्चर्यमनायासेन तत्फलम् ॥४०॥
कण्ठाकाशे स्थिरं चेतः कुर्वन्योगी दिने दिने ।
मायोत्थं फलमाप्नोति बिम्बादावपि तत्रगे ॥४१॥
कण्ठकूपविधानाभं राहुग्रस्तेन्दुबिम्बवत् ।
चिन्तयन्न पुनर्याति मायादेर्वशवर्तिताम् ॥४२॥
तदेव तत्र स्वर्भानुमुक्तवत्परिचिन्तयन् ।
तेजोदेहादिकं चापि प्राप्नोति परमेशताम् ॥४३॥
मध्यन्दिनकराकारं लम्बकस्थं विचिन्तयेत् ।
समस्तमन्त्रचक्रस्य रूपं यत्सामुदायिकम् ॥४४॥
ततः कालक्रमाद्योगी मन्त्रत्वमधिगच्छति ।
अनुषङ्गफलं चात्र पूर्वोक्तं सर्वमिष्यते ॥४५॥
मूर्ति तत्रैव संचिन्त्य मन्त्रेशत्वमवाप्नुयात् ।
तदधो दीपकं तेजो ध्यात्वा तत्पतितां व्रजेत् ॥४६॥
सबाह्याभ्यन्तरं तस्मादधोर्ध्वं व्यापि च स्मरन् ।
तेजो मन्त्रेश्वरेशानपदान्न च्यवते नरः ॥४७॥
बद्ध्वा पद्मासनं योगी पराबीजमनुस्मरन् ।
भ्रुवोर्मध्ये न्यसेच्चित्तं तद्बहिः किंचिदग्रतः ॥४८॥
निमीलिताक्षो हृष्टात्मा शब्दालोकविवर्जिते ।
पश्यते पुरुषं तत्र द्वादशाङ्गुलमायतम् ॥४९॥
तत्र चेतः स्थिरं कुर्यात्ततो मासत्रयोपरि ।
सर्वावयवसंपूर्णं तेजोरूपमचञ्चलम् ॥५०॥

प्रसन्नमिन्दुसंकाशं पश्यति दिव्यचक्षुषा ।
तं दृष्ट्वा पुरुषं दिव्यं कालज्ञानं प्रवर्तते ॥५१॥
अशिरस्के भवेन्मृत्युः षण्मासाभ्यन्तरेण तु ।
वञ्चनं तत्र कुर्वीत यत्नात्कालस्य योगवित् ॥५२॥
ब्रह्मरन्ध्रोपरि ध्यायेच्चन्द्रबिम्बमकल्मषम् ।
स्रवन्तममृतं दिव्यं स्वदेहापूरकं बहु ॥५३॥
तेनापूरितमात्मानं चेतोनालानुसर्पिणा ।
सबाह्याभ्यन्तरं ध्यायन्दशाहान्मृत्युजिद्भवेत् ॥५४॥
महाव्याधिविनाशेऽपि योगमेनं समभ्यसेत् ।
प्रत्यङ्गव्याधिनाशाय प्रत्यङ्गाङ्गमनुस्मरन् ॥५५॥
धूमवर्णं यदा पश्येन्महाव्याधिस्तदा भवेत् ।
कृष्णे कुष्ठमवाप्नोति नीले शीतलिकाभयम् ॥५६॥
हीनचक्षुषि तद्रोगं नासाहीने तदात्मकम् ।
यद्यदङ्गं न पश्येत तत्र तद्व्याधिमादिशेत् ॥५७॥
आत्मनो वा परेषां वा योगी योगपथे स्थितः ।
वर्षैस्तु पञ्चभिः सर्वं विद्यातत्त्वान्तमीश्वरि ॥५८॥
वेत्ति भुङ्क्ते च सततं न च तस्मात्प्रहीयते ।
तत्रस्थे तेजसि ध्याते सर्वदेहविसर्पिणि ॥५९॥
पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति तत्कालक्रमयोगतः ।
अथोर्ध्वव्यापिनि ध्याने तत्र तस्मादखण्डितः ॥६०॥
सर्वमन्त्रेश्वरेशत्वान्न भूयोऽपि निवर्तते ।
एवं ललाटदेशेऽपि महादीप्तमनुस्मरन् ॥६१॥
प्रपश्यत्यचिरादेव वर्णाष्टकयुतं क्रमात् ।
इन्द्रनीलप्रतीकाशं शिखिकण्ठसमद्युति ॥६२॥
राजावर्तनिभं चान्यत्तथा वैदूर्यसंनिभम् ।
पुष्परागनिभं चान्यत्प्रवालकसमद्युति ॥६३॥

पद्मरागप्रतीकाशमन्यच्चन्द्रसमद्युति ।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्स्नां दिव्यज्ञानं प्रवर्तते ॥६४॥
विहारपादचारादि ततः सर्वं प्रवर्तते ।
अधोर्ध्वं व्यापिनि ध्याते न तस्माच्च्यवते पदात् ॥६५॥
इत्येतत्सर्वमाख्यातं लक्ष्यभेदव्यवस्थितम् ।
अधुना चित्तभेदोऽपि समासादुपदिश्यते ॥६६॥
पिशाच नन्तपर्यन्तगुणाष्टकसमीहया ।
तत्तद्रूपगुणं कुर्यात्सम्यगीशे स्थिरं मनः ॥६७॥
इतीश्वरपदान्तस्य मार्गस्यास्य पृथक् पृथक् ।
यथोपासा तथाख्याता योगिनां योगसिद्धये ॥६८॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे धारणाधिकारः षोडशः ॥१६॥

अथ सप्तदशोऽधिकारः

अथैतत्सर्वमुद्दिष्टं यदि न स्फुटतां व्रजेत् ।
स्फुटीकृते स्थिते तत्र न मनस्तिष्ठते स्फुटम् ॥१॥
गतिभङ्गं ततस्तस्य प्राणायामेन कारयेत् ।
स च पञ्चविधः प्रोक्तः पूरकादिप्रभेदतः ॥२॥
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचको ह्यपकर्षकः ।
उत्कर्षः पञ्चमो ज्ञेयस्तदभ्यासाय योगिभिः ॥३॥
पूरकः पूरणाद्वायोर्द्वेधा षोढा च गीयते ।
स्वभावपूरणादेको विरेच्यान्यः प्रपूरितः ॥४॥
नासामुखोर्ध्वतालूनां रन्ध्रभेदाद्विभिद्यते ।
भिन्नः षोढात्वमभ्येति पुनर्भेदैरनन्तताम् ॥५॥
कुम्भः पञ्चविधो ज्ञेयस्तत्रैकः पूरितादनु ।
विधृतो रेचकात्पश्चाद्द्वितीयः परिकीर्तितः ॥६॥
द्वयोरन्ते द्वयं चान्यत्स्वभावस्थश्च पञ्चमः ।
स्थानान्तरप्रभेदेन गच्छत्येषोऽप्यनन्तताम् ॥७॥
रेचकः पूर्ववज्ज्ञेयो द्विधाभूतः षडात्मकः ।
स्थानसंस्तम्भितो वायुस्तस्मादुत्कृष्य नीयते ॥८॥
योऽन्यप्रदेशसंप्राप्त्यै स उत्कर्षक इष्यते ।
तस्मादपि पुनः स्थानं यतो नीतस्तदाहृतः ॥९॥
अपकर्षक इत्युक्तो द्वावप्येतावनेकधा ।
एषामभ्यसनं कुर्यात्पद्मकाद्यासनस्थितः ॥१०॥
अधमः सकृदुद्घातो मध्यमः सिद्धिदो मतः ।
ज्येष्ठः स्याद्यस्त्रिरुद्घातः स च द्वादशमात्रकः ॥११॥

त्रिर्जानुवेष्टनान्मात्रात्रिगुणाच्छोटिकात्रयात् ।
अजितां नाक्रमेन्मात्रां वायुदोषनिवृत्तये ॥१२॥
प्रत्यङ्गधारणाद्वायुं न च चक्षुषि धारयेत् ।
नाभिहृत्तालुकण्ठस्थे विवृते मरुति क्रमात् ॥१३॥
चतस्रो धारणा ज्ञेया शिख्यम्बवीशामृतात्मिकाः ।
यद्यत्र चिन्तयेद्द्रव्यं तत्तत्सर्वगतं स्मरेत् ॥१४॥
बिन्दुनादात्मकं रूपमोशानीं धारणां श्रितम् ।
अमृतायाः स्मरेदिन्दुं कालत्यागोक्तवर्त्मना ॥१५॥
धारणाभिरिहैताभिर्योगी योगपथे स्थितः ।
हेयं वस्तु परित्यज्य यायात्पदमनुत्तमम् ॥१६॥
त्रिवेदद्वीन्दुसंख्यातसमुद्घातास्त्विमा मताः ।
एताभिरप्यधोऽप्युक्तं फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥१७॥
योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।
हेयाद्यालोचना तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते ॥१८॥
मार्गे चेतः स्थिरीभूते हेयेऽपि विषयेच्छया ।
प्रेर्यं तेनानयेत्तावद्यावत्पदमनामयम् ॥१९॥
तदर्थभावनायुक्तं मनोध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते ॥२०॥
मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते ।
तत्रापि च सुनिष्पन्ने फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥२१॥
यत्किंचिच्चिन्तयेद्वस्तु नान्यत्वं प्रतिपद्यते ।
तेन तन्मयतामाप्य भवेत्पश्चादभाववत् ॥२२॥
पञ्चतामिव संप्राप्तस्तीव्रैरपि न चाल्यते ।
ततः शब्दादिभिर्योगी योगिनीकुलनन्दनः ॥२३॥
इत्यनेन विधानेन प्रत्याहृत्य मनो मुहुः ।
प्राणायामादिकं सर्वं कुर्याद्योगप्रसिद्धये ॥२४॥

सर्वमप्यथवा भोगं मन्यमानो विरूपकम् ।
स्वशरीरं परित्यज्य शाश्वतं पदमृच्छति ॥२५॥
तदा पूर्वोदितं न्यासं कालानलसमप्रभम् ।
विपरीतविधानेन कुर्या......द्वियुग्मताम् ॥२६॥
आग्नेयों धारणां कृत्वा सर्वमर्मप्रतापिनीम् ।
पूरयेद्वायुना देहमङ्गुष्ठान्मस्तकान्तिकम् ॥२७॥
तमुत्कृष्य ततोऽङ्गुष्ठाद्ब्रह्मरन्ध्रान्तमानयेत् ।
छेदयेत्सर्वमर्माणि मन्त्रेनानेन योगवित् ॥ ८॥
जीवमादिद्विजारूढं शिरोमालादिसंयुतम् ।
कृत्वा तदग्रे कुर्वीत द्विजमाद्यमजीवकम् ॥२९॥
इत्येषा कथिता कालरात्रिर्मर्मनिकृन्तनी ।
नैनां समुच्चरेद्देवि य इच्छेद्दीर्घजीवितम् ॥३०॥
शतार्धोच्चारयोगेन जायते मूर्ध्नि वेदना ।
एवं प्रत्ययमालोच्य मृत्युजिद्ध्यानमाश्रयेत् ॥३१॥
निपीडच तं ततस्तत्र बिन्दुनादादिचिन्तकम् ।
वेगादुत्कृष्य तत्रस्थकालरात्रीं विसर्जयेत् ॥३२॥
..............................सिद्धयोगीश्वरो मते ।
तत्सकाशाद्भवेत्सिद्धिः सर्वमन्त्रोक्तलक्षणा ॥३३॥
तदेव मन्त्ररूपेण म [नुष्यैः] समुपास्यते ।
एष ते ज्ञेयसद्भावः कथितः सुरवन्दिते ॥३४॥
अभक्तस्य गुहस्यापि नाख्येयो जातुचिन्मया ।
उदरं सर्वमापूर्य ब्रह्मरन्ध्रान्तमागतम् ॥३५॥
वायुं भ्रमणयोगेन तनस्तं प्रेरयेत्तथा ।
यावत्प्राणप्रदेशान्तं योगिनां मनसेप्सितम् ॥३६॥
व्याप्यते पुनरा [वृत्य] तथैव नाभिमण्डलम् ।
एवं समभ्यसेत्तावद्यावद्वासरसप्तकम् ॥३७॥

तदाप्रभृति संयुक्तः कर्षयेत्त्रिदशानपि ।
अनेनाकृष्य विज्ञानं सर्वयोगिनिषेवितम् ॥३८॥
गृह्णीयाद्योगयुक्तात्मा किमन्यैः क्षुद्रशासनैः ।
प्रथमं महती घूर्णिरभ्यासात्तस्य जायते ॥३९॥
ततः प्रकम्पो देवेशि ज्वलतीव ततोऽप्यणुः ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे सप्तदशोऽधिकारः ॥१७॥

अथ अष्टादशोऽधिकारः

श्रृणु देवि परं गुह्यमप्राप्यमकृतात्मनाम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं तदद्य कथयामि ते ॥१॥
सर्वमन्यत्परित्यज्य चित्तमत्र निवेशयेत् ।
मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ॥२॥
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ॥३॥
अतः प्रपूजयेदेतत्परमाद्वैतमाश्रितः ।
अनुध्यानेन देवेशि परेण परमाणुना ॥४॥
योऽनुध्यातः स एवैतल्लिङ्गं पश्यति नापरः ।
यदेतत्स्पन्दनं नाम हृदये समवस्थितम् ॥५॥
तत्र चित्तं समाधाय कम्प उद्भव एव च ।
तत्र प्रशान्तिमापन्ने मासेनैकेन योगवित् ॥६॥
हृदयादुत्थितं लिङ्गं ब्रह्मरन्ध्रान्तमीश्वरि ।
स्वप्रभोद्योतिताशेषदेहान्तममलद्युति ॥७॥
तत्रैव पश्यते सर्वं मन्त्रजालं महामतिः ।
तन्मस्तकं समारुह्य माससमात्रमनन्यधीः ॥८॥
ततस्तत्र सुनिष्पन्ने षण्मासात्सर्वसिद्धयः ।
एतल्लिङ्गमविज्ञाय यो लिङ्गी लिङ्गमाश्रयेत् ॥९॥
वृथा परिश्रमस्तस्य न लिङ्गफलमश्नुते ।
शैवमेतन्महालिङ्गमात्मलिङ्गे [न] सिद्धयति ॥१०॥
सिद्धेऽत्र लिङ्गवल्लिङ्गी लिङ्गस्थो लिङ्गवर्जितः ।
भवतीति किमाश्चर्यमेतस्माल्लिङ्गलिङ्गितः ॥११॥

अनेन लिङ्गलिङ्गेन यदा योगी बहिर्व्रजेत् ।
तदा लिङ्गीति विज्ञेयः पुरान्तं लिङ्गमिष्यते ॥१२॥
एतस्माल्लिङ्गविज्ञानाद्योगिनो लिङ्गिताः स्मृताः ।
अनेनाधिष्ठिताः मन्त्राः शान्तरौद्रादिभेदतः ॥१३॥
भवन्तीति किमाश्चर्यं तद्भावगतचेतसः ।
रौद्रं भावं समाश्रित्य यदि योगं समभ्यसेत् ॥१४॥
दुर्निरीक्ष्यो भवेत्सर्वैः सदेवासुरमानुषैः ।
गमागमविनिर्मुक्तः सर्वदृष्टिरकातरः ॥१५॥
मुहूर्तं तिष्ठते यावत्तावद्देवेशमाप्नुयात् ।
आविष्टः पश्यते सर्वं सूर्यकोटिसमद्युतिः ॥१६॥
यत्तादक्षरमव्यक्तं शैवं भैरवमित्यपि ।
तं दृष्टवा वत्सरार्धेन योगी सर्वज्ञतामियात् ॥१७॥
य एवैनं समासाद्य यस्तृप्तिमधिगच्छति ।
न च कृत्रिमयोगेषु स मुक्तः सर्वबन्धनैः ॥१८॥
प्राणायामादिकैर्लिङ्गैर्योगाः स्यु कृत्रिमा मताः ।
तेन तेऽकृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥१९॥
एतत्समभ्यसन्योगी दिव्यचिह्नानि पश्यति ।
उपविष्ट ऋजुर्योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२०॥
मुहूर्तान्निर्दहेत्सर्वं देहस्थमकृतं कृतम् ।
दह्यमानस्य तस्येह प्रकम्पानुभवो भवेत् ॥२१॥
ततस्तत्र स्थिरीभूते ज्योतिरन्तः प्रकाशते ।
तां दृष्ट्वा परमां दीप्तिं दिव्यज्ञानं प्रवर्तते ॥२२॥
स्वतन्त्रशिवतामेति भुञ्जानो विषयानपि ।
अनिमीलितदिव्याक्षो यावदास्ते मुहूर्तकम् ॥२३॥
तस्मात्सर्वगतं भावमात्मनः प्रतिपद्यते ।
तमेव भावयेद्यत्नात्सर्वसिद्धिफलेप्सया ॥२४॥

ततस्तं भावयेद्योगी कम्पमानोऽस्त्यनुल्वणम् ।
ततः प्रपश्यते तेजो ललाटाग्रे समन्ततः ॥२५॥
दृष्ट्वा तत्परमं तेजो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ।
षड्भिर्मासैरनायासाद्वत्सरेण प्रसिद्ध्यति ॥२६॥
शिवतुल्यबलो भूत्वा यत्रेष्टं तत्र गच्छति ।
चेतः सर्वगतं कृत्वा मुहूर्तादेव योगवित् ॥२७॥
शक्त्यावेशमवाप्नोति प्रकम्पानुभवात्मकम् ।
ततस्तत्र स्थिरीभूते मासमात्रेण योगवित् ॥२८॥
शाक्तं प्रपश्यते तेजः स्वबाह्याभ्यन्तरे स्थिरम् ।
तत्र सम्यक् सुनिष्पन्ने सर्वेन्द्रियजमादरात् ॥२९॥
तत्र स्फुटमवाप्नोति विज्ञानमनिवारितम् ।
सर्वगं चात्र विज्ञेयं यदक्षार्थेन संगतम् ॥३०॥
एकमेवेदमाख्यातं तत्त्वं पर्यायभेदतः ।
कर्मेन्द्रियाणि बुद्ध्यन्तं परित्यज्य समस्तकम् ॥३१॥
भावयेत्परमां शक्तिं सर्वत्रैव विचक्षणः ।
निश्चलं तु मनः कृत्वा यावत्तन्मयतां गतः ॥३२॥
तावत्सर्वगतं भावं क्षणमात्रात्प्रपद्यते ।
निर्दह्य पाशजालानि यथेष्टं फलमाप्नुयात् ॥३३॥
तस्मात्समभ्यसेदेनं कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
यत्राधारविनिर्मुक्तो जीवो लयमवाप्स्यति ॥३४॥
तत्स्थानं सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिक्षेत्रमिष्यते ।
द्विविधं तत्परिज्ञेयं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥३५॥
प्रयातव्याधिका मात्रा सा ज्ञेया सर्वसिद्धिदा ।
अथवा गच्छतस्तस्य स्वप्नवृत्त्या विचक्षणः ॥३६॥
निरोधं मध्यमे स्थाने कुर्वीत क्षणमात्रकम् ।
पश्यते तत्र चिच्छक्तिं त्रुटिमात्रामखण्डिताम् ॥३७॥

तदेव परमं तत्त्वं तस्माज्जातमिदं जगत् ।
स एव मन्त्रदेहस्तु सिद्धयोगीश्वरीमते ॥३८॥
तेनैवालिङ्गिता मन्त्राः सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।
ईषद्व्यावृत्तवर्णस्तु हेयोपादेयवर्जितः ॥३९॥
यां संवित्तिमवाप्नोति शिवतत्त्वं तदुच्यते ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्वन्सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ॥४०॥
तत्रैव दिव्यचिह्नानि पश्यते च न संशयः ।
यत्रैव कुत्रचिद्गात्रे विकार उपजायते ॥४१॥
संकल्पपूर्वको देवि तत्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम् ।
तदभ्यसेन्महायोगी सर्वज्ञत्वजिगीषया ॥४२॥
प्राप्नोति परमं स्थानं भुक्त्वा विद्धि यथेप्सिताम् ।
गन्धपुष्पादिभिर्योगी नित्यमात्मानमादरात् ॥४३॥
ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशे तु पूजयेद्भावतोऽपि वा ।
द्रवद्द्रव्यसमायोगात्स्नपनं तस्य जायते ॥४४॥
गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं मतम् ।
षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रकल्पते ॥४५॥
यमेवोच्चारयेद्वर्णं स जपः परिकीर्तितः ।
तत्र चेतः समाधाय दह्यमानस्य वस्तुनः ॥४६॥
ज्वालान्तस्तिष्ठते यावत्तावद्धोमः कृतो भवेत् ।
यदेव पश्यते रूपं तदेव ध्यानमिष्यते ॥४७॥
प्रसङ्गादिदमुद्दिष्टमद्वैतयजनं महत् ।
उदयार्कसमाभासमूर्ध्वद्वारे मनः स्थिरम् ॥४८॥
हृदि वा तत्तथा कुर्याद्द्वादशान्तेऽथ वाप्नुयात् ।
ततो मासार्धमात्रेण तद्रूपमुपलभ्यते ॥४९॥
उपलब्धं तदभ्यस्य सर्वज्ञत्वाय कल्पते ।
वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य योगी लक्ष्ये नियोजयेत् ॥५०॥

नाभिकन्दादधस्तात्तु यावत्तत्त्वं शिखावधि ।
सूक्ष्मतारकसंकाशं रश्मिज्वालाकरालितम् ।।५१।।
प्राणशक्त्यवसाने तु पश्यते रूपमात्मनः ।
तदेवाभ्यसतो देवि विकासमुपगच्छति ।।५२।।
तन्मुखं सर्वमन्त्राणां सर्वतन्त्रेषु पठ्यते ।
ततोऽस्य मासमात्रेण काचित्संवित्तिरिष्यते ।।५३।।
यतः सर्वं विजानाति हृदये संव्यवस्थितम् ।
तां ज्ञात्वा कस्यचिद्योगी न सम्यक्प्रतिपादयेत् ।।५४।।
अध्यायात्कथनं कुर्यान्नाकाले मृत्युमाप्नुयात् ।
मृतोऽपि श्वभ्रसंघाते क्रमेण परिपच्यते ।।५५।।
एवं ज्ञात्वा महादेवि स्वहितं समुपार्जयेत् ।
शिष्योऽप्यन्यायतो गृह्णन्नरकं प्रतिपद्यते ।।५६।।
न च तत्कालमाप्नोति वचस्त्ववितथं मम ।
न्यायेन ज्ञानमासाद्य पश्चान्न प्रतिपद्यते ।।५७।।
तदा तस्य प्रकुर्वीत विघ्नापहृतिं बुधः ।
ध्यात्वा तमग्रतः स्थाप्य स्वरूपेणैव योगवित् ।।[illegible]।।
षड्विधं विन्यसेन्मार्गं तस्य देहे पुरोक्तवत् ।
ततस्तं दीपमालोक्य तदङ्गुष्ठाग्रतः क्रमात् ।।५९।।
नयेत्तेजः समाहृत्य द्वादशान्तमनन्यधीः ।
ततस्तं तत्र संचिन्त्य शिवेनैकत्वमागतम् ।।६०।।
तत्र ध्यायेत्तमोरूपं तिरोभावनशीलनम् ।
पतन्तीं तेन मार्गेण ह्यङ्गुष्ठाग्रान्तमागताम् ।।६१।।
सबाह्याभ्यन्तरं ध्यायेन्निविडाञ्जनसप्रभाम् ।
अनेन विधिना तस्य मूढबुद्धेर्दुरात्मनः ।।६२।।
विज्ञानमन्त्रविद्याद्या न कुर्वन्त्युपकारिताम् ।
चित्ताभिसंधिमात्रेण ह्यदृष्टस्यापि जायते ।।६३।।

कथंचिदुपलब्धस्य नित्यमेवापकारिणः ।
अथवा सूर्यबिम्बाभं ध्यात्वा विच्छेद्यमग्रतः ॥६४॥
स्वभानुरूपया शक्त्या ग्रस्तं तमनुचिन्तयेत् ।
अपराधसहस्रैस्तु कोपेन महतान्वितः ॥६५॥
विधिमेनं प्रकुर्वीत क्रीडार्थं न तु जातुचित् ।
अनेन विधिना भ्रष्ठो विज्ञानादपरेण च ॥६६॥
न शक्यो योजितुं भुयो यावत्तेनैव नोद्धृतः ।
करुणाकृष्टचित्तस्तु तस्य कृत्वा विशोधनम् ॥६७॥
प्राणायामादिभिस्तीव्रैः प्रायश्चित्तैर्विधिश्रुतैः ।
ततस्तस्य प्रकुर्वीत दीक्षां पूर्वोक्तवर्त्मना ॥६८॥
ततः सर्वमवाप्नोति फलं तस्मादनन्यधीः ।
एवं ज्ञात्वा प्रयत्नेन गुरुमासादयेत्सुधीः ॥६९॥
यतः संतोष उत्पन्नः शिवज्ञानामृतात्मकः ।
न तस्यान्वेषयेद्वृत्तं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥७०॥
स एव तद्विजानाति युक्तं वायुक्तमेव वा ।
अकार्येषु यदा सक्तः प्राणद्रव्यापहारिषु ॥७१॥
तदा निवारणीयोऽसौ प्रणतेन विपश्चिता ।
तेनातिवार्यमाणोऽपि यद्यसौ न निवर्तते ॥७२॥
तदान्यत्र क्वचिद्गत्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ।
एष योगविधिः प्रोक्तः समासाद्योगिनां हितः ॥७३॥
नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम् ।
न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ॥७४॥
न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ॥७५॥
तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ॥७६॥

परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत्।
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ॥७७॥
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा।
किंत्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ॥७८॥
तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रयत्नेन योगिना।
तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत् ॥७९॥
तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि।
न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥८०॥
विषापहारिमन्त्रादिसंनद्धो भक्षयन्नपि।
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ॥८१॥
इत्येतत्कथितं देवि किमन्यत्परिपृच्छसि।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे परमविद्याधिकारो नामाष्टादशोऽधिकारः ॥१८॥

अथ एकोनविंशोऽधिकारः

अथैनं परमं योगविधिमाकर्ण्य शाङ्करी ।
पुनराह प्रसन्नास्या प्रणिपत्य जगद्गुरुम् ॥१॥
साध्यत्वेन श्रुता देव भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
विद्यात्रयं सविद्याङ्गं विधिवच्चावधारितम् ॥२॥
अधुना श्रोतुमिच्छामि ह्यभिन्ना साध्यते कथम् ।
हिताय साधकेन्द्राणां प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥३॥
एवमुक्तो महेशान्या जगतां पतिरादरात् ।
विकसद्वदनाम्भोजः प्रत्युवाच वचोऽमृतम् ॥४॥
आरिराधयिषुः शंभुं कुलोक्तविधिना बुधः ।
कुलचक्रं यजेदादौ बुधो दीक्षोक्तवर्त्मना ॥५॥
ततो जपेत्परां शक्ति लक्षमेकमखण्डितम् ।
पराबीजपुटान्तःस्थां न द्रुतां न विलम्बिताम् ॥६॥
तद्वत्खण्डाष्टकं चास्या लक्षं लक्षमखण्डितम् ।
जपेत्कुलेश्वरस्यापि लक्षषट्कमनन्यधीः ॥७॥
होमयित्वा दशांनेन द्रव्यं पूर्वोदितं बुधः ।
नित्यानुस्मृतिशीलस्य वाक्सिद्धिः संप्रजायते ॥८॥
स्वकुले जपयुक्तस्य अशक्तस्यापि साधने ।
भवन्ति कन्यका देवि संसारे भोगसंपदः ॥९॥
शक्तस्तु साधयेत्सिद्धिं मध्यमामुत्तमामपि ।
कृतसेवाविधिः पृथ्वीं भ्रमेदुद्भ्रान्तपत्त्रिवत् ॥१०॥
नगरे पञ्चरात्रं तु त्रिरात्रं पत्तने तु वै ।
ग्रामेऽपि चैकरात्रं तु स्थित्वैनं विधिमाचरेत् ॥११॥

यन्नामाद्यक्षरं यत्र वर्गे तत्तस्य वस्तुनः ।
कुलमुक्तं विधानज्ञैर्नगरादेर्न संशयः ॥१२॥
या यत्र देवता वर्गे वाच्यत्वे संव्यवस्थिता ।
सैव तस्य पतित्वेन ध्येया पूज्या च साधकैः ॥१३॥
तस्य किंचित्समासाद्य नगरादिकमादरात् ।
स्वदिग्वर्गस्थितो भूत्वा चक्रं योज्य निजोदये ॥१४॥
अवा··················समेकैक उदिते··················।
देवता माहेश्वरि···॥१५॥
क्रमेणैव यथा रात्रौ··················तथा दिवा ।
स्वदिशि स्वोदये वर्गं तमेवानुस्मरेद्बुधः ॥१६॥
तिष्ठेदन्योदयं यावत्ततः स्वां दिशमाश्रयेत् ।
स्वकुलं चिन्तयन्यायात्तद्देशकुलमेव वा ॥१७॥
यावदन्यां दिशं मन्त्री ततस्तदनुचिन्तयेत् ।
एवं यावत्स्वकं स्थानं कुलचक्रोक्तवर्त्मना ॥१८॥
भ्रमित्वा पुनरायाति पूर्वकालक्रमेण च ।
तावदागत्य देवेशि तद्देशकुलनायिका ॥१९॥
ददेद्भक्ष्यादिकं किंचिद्दापयेद्वाथ केनचित् ।
अनेन विधिना युक्तो गुप्ताचारो दृढव्रतः ॥२०॥
योगिनीमेलकं प्राप्य षण्मासेनैव सिद्ध्यति ।
दुष्करोऽयं विधिर्देवि सत्त्वहीनैर्नराधमैः ॥२१॥
सर्वसिद्धिकरो मुख्यः कुलशास्त्रेषु सर्वतः ।
अथैकस्मिन्नपि ग्रामे पत्तने नगरेऽपि वा ॥२२॥
तद्दिग्भागं समाश्रित्य तदेव जपते कुलम् ।
त्रिभिरब्दैरनायासात्साधयेदुत्तमं फलम् ॥२३॥
लोकयात्रापरित्यक्तो ग्रासमात्रपरिग्रहः ।
अथवा नाभिचक्रे तु ध्यानचक्रं कलात्मकम् ॥२४॥

चेतसा भ्रमणं कुर्यात्सर्वकालक्रमेण तु ।
ततोऽस्य वत्सरार्धेन देहान्तं योगिनीकुलम् ॥२५॥
आविर्भवत्यसंदेहात्स्वविज्ञानप्रकाशकम् ।
तेनाविर्भूतमात्रेण योगी योगिकुले कुली ॥२६॥
भवेदपि पतिर्देवि योगिनां परमेश्वरि ।
अथवा चिन्तयेद्देवि यकारादिकमष्टकम् ॥२७॥
स्वरूपेण प्रभाकारकरालाकुलविग्रहम् ।
तस्य मध्ये कुलेशानं स्वबोधकमनुस्मरन् ॥२८॥
सर्वमेव च तत्पश्चाच्चक्रं दीपशिखाकृति ।
संभूतं चिन्तयेद्योगी योगिनीपदकाङ्क्षया ॥२९॥
एतस्मिन्व्यक्तिमापन्ने पिण्डस्थं बुद्ध उच्यते ।
ततोऽस्याकस्मिकी देवि महामुद्रोपजायते ॥३०॥
शृङ्गारवीरकारुण्यशोककोपादयस्तथा ।
प्रबुद्धमेतदुद्दिष्टं पिण्डस्थममरार्चिते ॥३१॥
दिवसैरभियुक्तस्य ततोऽस्य बहुभिर्दिनैः ।
धरादितत्त्वभावानां संवित्तिरुपजायते ॥३२॥
सुप्रबुद्धं तदिच्छन्ति पिण्डस्थं ज्ञानमुत्तमम् ।
चक्रं च त्रिगुणाष्टारमथवा तत्र चिन्तयेत् ॥३३॥
कादिहान्ताक्षराक्रान्तं पूर्वरूपं सबिन्दुकम् ।
तत्रापि पूर्ववत्सर्वं कुर्वन्नेतत्फलं लभेत् ॥३४॥
आदिवर्णान्वितं वाथ षोडशारमनुस्मरन् ।
मध्यक्रमेण वा योगी पञ्चमं चुम्बकादिभिः ॥३५॥
द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां नाभिचक्रके ।
यतः पिण्डत्वमायान्ति तेनासौ पिण्ड उच्यते ॥३६॥
तत्र स्थितं तु यज्ज्ञेयं पिण्डस्थं तदुदाहृतम् ।
अ·········मल·········त्केश··· ··· ···········कम् ॥३७॥

विज्वरत्वमवाप्नोति वत्सरेण यदृच्छया ।
चक्रपञ्चकमेतद्धि पूर्ववद्धृदये स्थितम् ॥३८॥
पदस्थमिति शंसन्ति चतुर्भेदं विचक्षणा ।
यत्रार्थावगतिर्देवि तत्स्थानं पदमुच्यते ॥३९॥
चतुष्कमत्र विज्ञेयं भेदं पञ्चदशात्मकम् ।
सर्वतो भद्रसंसिद्धौ सर्वतो भद्रतां व्रजेत् ॥४०॥
जरामरणनैर्गुण्यनिर्मुक्तो योगचिन्तकः ।
व्याप्तावपि प्रसिद्धायां मायाधस्तत्त्वगोचरः ॥४१॥
वेत्ति तत्पतितुल्यत्वं तदीशत्वं च गच्छति ।
पदस्थे किंतु चन्द्राभं प्रदीपाभं न चिन्तयेत् ॥४२॥
एतदेवामृतौघेन देहमापूरयत्स्वकम् ।
चिन्तितं मृत्युनाशाय भवतीति किमद्भुतम् ॥४३॥
उपलक्षणमेतत्ते चन्द्रबिम्बाद्युदीरितम् ।
येन येनैव रूपेण चिन्त्यते परमेश्वरी ॥४४॥
पिण्डस्थादिप्रभेदेषु तेनैवेष्टफलप्रदा ।
रूपमैश्वरमिच्छन्ति शिवस्याशिवहारिणः ॥४५॥
यद्भ्रूमध्यस्थितं यस्मात्तेन तत्र व्यवस्थितम् ।
पञ्चकं सूर्यसंकाशं रूपस्थमभिधीयते ॥४६॥
तत्रापि पूर्ववत्सिद्धिरीश्वरान्तपदोद्भवा ।
रूपातीतं तु देवेशि प्रागेवोक्तमनेकधा ॥४७॥
इत्येषा कुलचक्रस्य समासाद्व्याप्तिरुत्तमा ।
कथिता सर्वसिद्ध्यर्थं सिद्धयोगीश्वरीमते ॥४८॥
सर्वदाथ विभेदेन पृथग्वर्णविभेदतः ।
विद्यादिसर्वसंसिद्ध्यै योगिनां योगमिच्छताम् ॥४९॥
भूयोऽपि संप्रदायेन वर्णभेदश्च कीर्त्यते ।
स्त्रीरूपां हृदि संचिन्त्य सितवस्त्रादिभूषिताम् ॥५०॥

नाभिचक्रोपविष्टां तु चन्द्रकोटिसमप्रभाम् ।
बीजं यत्सर्वशास्त्राणां तत्तदा स्यादनारतम् ॥५१॥
स्वकीयेनैव वक्त्रेण निर्गच्छत्प्रविचिन्तयेत् ।
तारहारलताकारं विस्फुरत्किरणाकुलम् ॥५२॥
वर्णैस्तारकसंकाशैरारब्धममितद्युति ।
मासार्धाच्छास्त्रसंघातमुद्गिरत्यनिवारितम् ॥५३॥
स्वप्ने मासात्समाधिस्थः षड्भिर्मासैर्यथेच्छया ।
उच्छिन्नान्यपि शास्त्राणि ग्रन्थतश्चार्थतोऽपि वा ॥५४॥
जानाति वत्सराद्योगी यदि तन्मयतां गतः ।
अनुषङ्गफलं चैतत्समासादुपवर्णितम् ॥५५॥
विद्येश्वरसमानत्वसिद्धिरन्याश्च सिद्धयः ।
प्रतिवर्णविभेदेन यथेदानीं तथोच्यते ॥५६॥
ध्यातव्या योगिभिर्नित्यं तत्तत्फलबुभुक्षुभिः ।
विन्यासक्रमयोगेन त्रिविधेनापि वर्त्मना ॥५७॥
यो यत्राङ्गे स्थितो वर्णः कुलशक्तिसमुद्भवः ।
तं तत्रैव समाधाय स्वरूपेणैव योगवित् ॥५८॥
स्फुरत्प्रभास्ततिमिरं कुर्वन्नत्र मनः स्थिरम् ।
पूर्वकालक्रमादेव तत्त्वाभ्यासोक्तवर्त्मना ॥५९॥
तद्वर्णव्याप्तिजं सर्वं प्राप्नोति फलमुत्तमम् ।
अथवा योजयेत्कश्चिदेनां वश्यादिकर्मसु ॥६०॥
तदा प्रसाधयत्याशु साधकस्य समीहितम् ।
उदितादित्यवर्णाभां समस्ताक्षरपद्धतिम् ॥६१॥
इच्छयैनां सुवर्णाभां स्रवन्तीं मदिरां मुहुः ।
सप्ताहं चिन्तयेद्यस्य सर्वाङ्गेषु यथाक्रमम् ॥६२॥
स वश्यो दासवद्भूत्वा नान्यं स्वामिनमिच्छति ।
त्रिसप्ताद्रूपसंपन्नां पदविभ्रान्तलोचनाम् ॥६३॥

उर्वशीमप्यनायासादानयेत्किमु मानुषीम् ।
अनेनैव विधानेन वायुवह्निपुरान्तगाम् ॥६४॥
पिण्डाकृष्टिकरी ज्ञेया योजनानां शतैरपि ।
शरत्पूर्णनिशानाथवर्णाभैषानुसंधिता ॥६५॥
विदधात्यतुलां शान्तिमात्मनोऽथ परस्य वा ।
द्रुतहेमप्रतीकाशा स्वस्थाने संप्रयोजिता ॥६६॥
महतीं पुष्टिमाधत्ते दशाहेनैव शाङ्करि ।
जम्बूफलरसाभासां वज्रकीलकसंनिभाम् ॥६७॥
कीलने चिन्तयेद्योगी मोहने शुकपिच्छवत् ।
वज्रनीलप्रतीकाशां प्रतिस्थाननिकृन्तनीम् ॥६८॥
कालानलसमस्पर्शां रिपुनाशाय चिन्तयेत् ।
मालायष्टरभीतानां कुलमद्रिसमोपमम् (?) ॥६९॥
चिन्तयेद्धूमसंकाशामत्यन्तमनलाकुलाम् ।
शान्तिकर्मोक्तवत्कोपप्रशान्तावप्यनुस्मरन् ॥७०॥
तापने तु तथा किंतु स्वरूपं सूर्यवद्बुधः ।
विद्वेषे तु कपोताभां भञ्जने चापसंनिभाम् ॥७१॥
उत्सादे नीलहरितपीतरक्तासितां स्मरेत् ।
प्रत्यङ्गव्याधिसंभूतावेकमेव तदुद्भवम् ॥७२॥
वर्णं विचिन्तयेद्योगी मारणोक्तेन वर्त्मना ।
तद्वत्तु शान्तिकर्मोक्तवर्त्मना तत्प्रशान्तये ॥७३॥
चिन्तयेत्कृतके व्याधिसंघाते सहजेऽपि वा ।
अथवैतां जपन्कश्चिद्वाक्सिद्धिमभिवाञ्छति ॥७४॥
तदानेन विधानेन प्रकुर्यादक्षमालिकाम् ।
मणिमौक्तिकशङ्खादिपद्माक्षादिविनिर्मिताम् ॥७५॥
हेमादिधातुजां वाथ शतार्धप्रमितां बुधः ।
यथा स्वबाहुमात्रा स्याद्वलयाकृतितां गता ॥७६॥

तां गृहीत्वा समालभ्य गन्धधूपाधिवासिताम् ।
पूजयित्वा कुलेशानं तत्र शक्तिं निवेशयेत् ॥७७॥
प्रत्येकमुच्चरेद्बीजं पराबीजपुटान्तगम् ।
प्रस्फुरत्क्षान्तमेकस्मिन्नाद्यक्षे विनियोजयेत् ॥७८॥
आद्यर्णं व्यापकं भूयः सर्वाधिष्ठायकं स्मरेत् ।
द्विविधेऽपि हि वर्णानां भेदे विधिरयं मतः ॥७९॥
द्वितीयं व्यापकं वर्णं द्वितीयं पूर्ववन्न्यसेत् ।
तृतीयादिषु वर्णेषु फान्तेष्वप्येवमिष्यते ॥८०॥
ततः शक्तिमनुस्मृत्य सूत्राभामेकमानसः ।
अक्षमध्यगतां कुर्यादक्षसूत्रप्रसिद्धये ॥८१॥
चक्रवद्भ्रामयेदेनां यदेवात्र प्रभाषते ।
तत्सर्वं मन्त्रसंसिद्धयै जपत्वेन प्रकल्पते ॥८२॥
होमः स्याद्दीक्षिते तद्वद्ह्यमानेऽत्र वस्तुनि ।
विपरीतप्रयोगेन संक्रुद्धो भ्रामयेद्यदि ॥८३॥
तदा मारयते शत्रुं सभृत्यबलवाहनम् ।
अभिमन्त्रय यदेवात्र चेतसा कर्म साधकः ॥८४॥
रात्रौ सौम्यादिभेदेऽत्र भ्रामयेदक्षसूत्रकम् ।
तदेव सिद्धयते देवि कृतसेवाविधेः प्रिये ॥८५॥
सेवा चात्राक्षसूत्रस्य षण्मासं परिवर्तनम् ।
विधावत्र नियुक्तस्य योगिनो वत्सरत्रयात् ॥८६॥
वाक्सिद्धिर्जायते देवि सर्वलोकसुदुर्लभा ।
वाक्सिद्धेर्नापरा सिद्धिरुत्तमा भुवि जातुचित् ॥८७॥
वाचो वर्णात्मिका यस्माद्वर्णरूपा च मालिनी ।
अथवा चिन्तयेदेनामुल्काकारां विचक्षणः ॥८८॥
निर्गच्छन्तीं स्वकाद्देहाद्विस्फुरन्तीं ततोऽप्यतः ।
स्फुलिङ्गैः कोटिसंख्यातैः संततैः किरणाकुलैः ॥८९॥

ग्रामं वा पत्तनं वापि नगरं देशमेव वा।
मण्डलं पृथिवीं वापि ब्रह्माण्डं वा समस्तकम् ॥९०॥
विस्तीर्णं वा जनानीकमेकैकमुत्तमोत्तमम्।
सबाह्याभ्यन्तरं व्याप्य पुनः प्रतिनिवृत्य च ॥९१॥
प्रविशन्तीं स्वकं देहं पूर्वाकारामनुस्मरेत्।
एवं दिने दिने कुर्यात्तद्गतेनान्तरात्मना ॥९२॥
ततोऽस्य मासमात्रेण जनास्तत्र निवासिनः।
आगच्छन्ति यथा तीर्थं शक्तितेजोपबृंहिताः ॥९३॥
रूपिण्यो विविधाकारा ललनाद्यास्तथा पराः।
भूचर्यः क्षोभमायान्ति षण्मासान्नात्र संशयः ॥९४॥
योनिजा द्वा मजा (?) क्षेत्रजाताः पीठसमुद्भवाः।
नायिकाश्च महादेवि क्रमात्क्षुभ्यन्ति वत्सरात् ॥९५॥
अन्तरिक्षगता दिव्या ब्रह्मलोकगताश्च याः।
ब्रह्माण्डान्तर्गताः सर्वाः क्षोभं यान्ति समात्रयात् ॥९६॥
स्वं स्वं ददति विज्ञानं साधकेन समीहितम्।
यदि ता न प्रयच्छन्ति साधकेन समीहितम् ॥९७॥
नश्यते दिव्यविज्ञानं त्रुटयते कुलसंततिः।
दत्त्वा तु साधकेन्द्रेण प्रार्थितं फलमादरात् ॥९८॥
अनुपालितगुर्वाज्ञाः सिद्धिं प्राप्स्यन्त्यनुत्तमाम्।
ताभ्यो विज्ञानमासाद्य योगी योगिकुले कुली ॥९९॥
भुक्त्वा यथेप्सितान्भोगान्यात्यन्ते परमं पदम्।
इत्ययं कथितो लेशात्कौलिको विधिरुत्तमः ॥१००॥
योगिनां सर्वसिद्ध्यर्थं कुलमार्गानुसारिणाम् ॥१०१॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे कुलचक्राधिकारः एकोनविंशः ॥१९॥

अथ विंशोऽधिकारः

अथ पिण्डादिभेदेन शाक्तं विज्ञानमुच्यते ।
योगिनां योगसिद्धयर्थं संक्षेपान्न तु विस्तरात् ॥१॥
पिण्डं शरीरमित्युक्तं तद्वच्छक्तिशिवात्मनोः ।
ब्रह्मानन्दो बलं तेजो वीर्यमोजश्च कीर्त्यते ॥२॥
अज्ञानेन निरुद्धं तदनाद्येव सदात्मनः ।
तदाविर्भूतये सर्वमनिरुद्धं प्रवर्तते ॥३॥
तेनाविर्भाव्यमानं तत्पूर्वावस्थां परित्यजत् ।
याः संवित्तीरवाप्नोति ता अधस्तात्प्रकीर्तिताः ॥४॥
तदेव पदमिच्छन्ति सर्वार्थावगतिर्यतः ।
तस्मात्संजायते नित्यं नित्यमेव शिवात्मनोः ॥५॥
तदेव रूपमित्युक्तमात्मनश्च विनश्वरम् ।
रूपातीतं तदेवाहुर्यतोऽक्षाविषयं परम् ॥६॥
भावनां तस्य कुर्वीत नमस्कृत्य गुरुं बुधः ।
तावदालोचयेद्वस्तु यावत्पदमनामयम् ॥७॥
नैवं च चैवं नाप्येवं नापि चैवमपि स्फुटम् ।
चेतसा योगयुक्तेन यावत्तदिदमप्यलम् ॥८॥
कृत्वा तन्मयमात्मानं सर्वाक्षार्थविवर्जितम् ।
मुहूर्तं तिष्ठते यावत्तावत्कम्पः प्रजायते ॥९॥
भ्रमणोद्भवनिद्राश्च किंचिदानन्द इत्यपि ।
तत्र यत्नेन संदध्याच्चेतः परफलेच्छया ॥१०॥
तदेतदात्मनो रूपं शिवेन प्रकटीकृतम् ।
यत्र तु यच्चं विज्ञेयं शिवात्मकमपि स्थितम् ॥११॥

तद्रूपोद्बलकत्वेन स्थितमित्यवधारयेत् ।
तत्समभ्यसतो नित्यं स्थूलपिण्डाद्युपाश्रयात् ॥१२॥
चतुर्भेदत्वमायाति भक्त्याभिन्नमपि स्वतः ।
स्थूलपिण्डे द्विधा प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥१३॥
भौतिकं बाह्यमिच्छन्ति द्वितीयं चातिवाहिकम् ।
तत्राद्योपाश्रयाद्योगी ससंवित्तिरपि स्फुटान् ॥१४॥
बाह्यार्थान्संप्रगृह्णाति किंचिदाध्यात्मिकानपि ।
द्वितीयोपाश्रयात्तत्स्वभावार्थान्संप्रपद्यते ॥१५॥
ईक्षते च स्वदेहान्तः पीठक्षेत्रादिकं स्फुटम् ।
स्वरूपालोचनादस्य यत्किंचिदुपजायते ॥१६॥
तत्र चेतः स्थिरीकुर्वंस्तदेव सकलं लभेत् ।
तेन तत्र न कुर्वीत चैतदुत्तमवाञ्छया ॥१७॥
पिण्डद्वयविनिर्मुक्ता किंचित्तद्वासनान्विता ।
विज्ञानकेवलान्तस्था पदमित्यभिधीयते ॥१८॥
यत एतामनुप्राप्तो विज्ञानक्रमयोगतः ।
रूपोदयातिविज्ञानपदत्वं प्रतिपद्यते ॥१९॥
एतच्चतुर्विधं ज्ञेयं चतुर्धार्थप्रतिश्रयात् ।
स च तत्त्वादिसंवित्तिपूर्वस्तत्पतितावधिः ॥२०॥
पदभावविनिर्मुक्ता किंचित्तदनुवर्जिता ।
अवस्था स्वस्वरूपस्य प्रकाशकरणी यतः ॥२१॥
तेन सारूप्यमित्युक्ता रूपस्थं यत्तदान्वितम् ।
उदितादिप्रभेदेन तदप्युक्तं चतुर्विधम् ॥२२॥
ज्ञानोदया च देवेशि ममत्वात्तत्फलप्रदम् ।
अमुना क्रमयोगेन अन्तरा येषु संदधत् ॥२३॥
चेतः शुद्धमवाप्नोति रूपातीतं परं पदम् ।
चतुर्विधं तदप्युक्तं संवित्तिफलभेदतः ॥२४॥

त्रिविधं तत्समभ्यस्य सर्वसिद्धिफलेच्छया ।
चतुर्थात्तु तनुं त्यक्त्वा तत्क्षणादपवृज्यते ॥२५॥
इति पिण्डादिभेदेन शिवज्ञानमुदाहृतम् ।
योगाभ्यासविधानेन मन्त्रविद्यागणं शृणु ॥२६॥
पूर्वोक्तविधिसंनद्धः प्रदेशे पूर्वचोदिते ।
नाभ्यादिपञ्चदेशानां परार्णं क्वापि चिन्तयेत् ॥२७॥
स्वरूपेण प्रभाभारप्रकाशिततनूदरम् ।
दीप्तिभिस्तस्य तीव्राभिराब्रह्मभुवनं ततः ॥२८॥
एवं संस्मरतस्तस्य दिवसैः सप्तभिः प्रिये ।
रुद्रशक्तिसमावेशः सुमहान्संप्रजायते ॥२९॥
आविष्टो बहुवाक्यानि संस्कृतादीनि जल्पति ।
महाहास्यं तथा गेयं शिवारुदितमेव च ॥३०॥
करोत्याविष्टचित्तस्तु न तु जानाति किंचन ।
मासैनैवं यदा मुक्तो यत्र यत्रावलोकयेत् ॥३१॥
तत्र तत्र दिशः सर्वा ईक्षते किरणा कुलाः ।
यां मामेव दिशं षड्भिर्मासैर्युक्तस्तु वीक्षये ॥३३॥
नानाकाराणि रूपाणि तस्यां तस्यां प्रपश्यति ।
न तेषु संदधेच्चेतः न चाभ्यासं परित्यजेत् ॥३३॥
कुर्वन्नेतद्विधं योगी भीरुरुन्मस्तको भवेत् ।
वीरः शक्तिः पुनर्याति प्रमादात्तद्गतोऽपि सन् ॥३४॥
वत्सराद्योगसंसिद्धिं प्राप्नोति मनसेप्सिताम् ।
परापरामथैतस्या अपरां वा यथेच्छया ॥३५॥
सद्भावं मातृसंघस्य हृदयं भैरवस्य वा ।
नवात्मानमपि ध्यायेद्रतिशेखरमेव वा ॥३६॥
अघोर्याद्यष्टकं वापि माहेश्याद्विकमेव वा ।
अमृतादिप्रभेदेन रुद्रान्वा शक्तयोऽपि वा ॥३७॥

सर्वे तुल्यबलाः प्रोक्ता रुद्रशक्तिसमुद्भवाः ।
अथवामृतपूर्णानां प्रभेदः प्रोच्यते परः ॥३८॥
प्राणस्थं परयाक्रान्तं प्रत्येकमपि दीपितम् ।
विद्यां प्रकल्पयेन्मन्त्रं प्राणाक्रान्तं परासनम् ॥३९॥
द्वादशारस्य चक्रस्य षोडशारस्य वा स्मरेत् ।
अष्टारस्याथ वा देवि तस्य त्रेधा शतस्य वा ॥४०॥
षडरस्याथ वा मन्त्री यथा सर्वं तथा शृणु ।
संक्षेपादिदमाख्यातं सार्धं चक्रशतद्वयम् ॥४१॥
एतत्त्रिगुणतां याति स्त्रीपुंयामलभेदतः ।
शान्त्यादिकर्मभेदेन प्रत्येकं द्वादशात्मताम् ॥४२॥
दक्षश्चण्डो हरः शौण्डो प्रमथो भीममन्मथौ ।
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालोऽथ पितामहः ॥४३॥
नन्दा भद्रा जया काली कराली विकृतानना ।
क्रोष्टकी भीममुद्रा च वायुवेगा हयानना ॥४४॥
गम्भीरा घोषणी चैव द्वादशैताः प्रकीर्तिताः ।
आग्नेय्यादिचतुष्कोणा ब्रह्माण्याद्या अपि प्रिये ॥४५॥
सिद्धिर्ऋद्धिस्तथा लक्ष्मीर्दीप्तिर्माला शिखा शिवा ।
सुमुखी वामनी नन्दा हरिकेशी हयानना ॥४६॥
विश्वेशी च सुमाख्या च एता वा दाद्वश क्रमात् ।
एतासां वाचका ज्ञेयाः स्वराः षण्ठविवर्जिता ॥४७॥
षोडशारेऽमृताद्याश्च स्त्रीपुंपाठप्रभेदतः ।
श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्तिः शर्वरीश्वरः ॥४८॥
अर्घेशो भारभूतिश्च स्थितिः स्थाणुर्हरस्तथा ।
झिण्ठीशो भौतिकश्चैव सद्योजातस्तथापरः ॥४९॥
अनुग्रहेश्वरः क्रूरो महासेनोऽथ षोडश ।
सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः स्वधा धृतिः ॥५०॥

दीप्तिः पुष्टिर्मतिः कीर्तिः संस्थितिः सुगतिः स्मृतिः ।
सुप्रभा षोडशी चेति श्रीकण्ठादिकशक्तयः ॥५१॥
षोडशारे स्वरा ज्ञेया वाचकत्वेन सर्वतः ।
अघोराद्यास्तथाष्टारे अघोर्याद्याश्च देवताः ॥५२॥
माहेश्याद्यास्तथा देवि चतुर्विंशत्यतः शृणु ।
नन्दादिकाः क्रमात्सर्वा ब्रह्माण्याद्यास्तथैव च ॥५३॥
संवर्तो लकुलीशश्च भृगुः श्वेतो बकस्तथा ।
खड्गी पिनाकी भुजगो नवमो बलिरेव च ॥५४॥
महाकालो द्विरण्डश्च चङ्गलाण्डः शिखी तथा ।
लोहितो मेषमीनौ च त्रिदण्डयाषाढिनामको ॥५५॥
उमाकान्तोऽर्धनारीशो दारुको लाङ्गली तथा ।
तथा सोमेशशर्माणौ चतुर्विंशत्यमी मताः ॥५६॥
कादिभान्ताः परिज्ञेया अष्टारे याद्यमष्टकम् ।
मकारो बिन्दुरूपस्थः सर्वेषामुपरि स्थितः ॥५७॥
जुंकारोऽथ तथा स्वाहा षडरे षट् क्रमेण तु ।
बलिश्च बलिनन्दश्च दशग्रीवो हरो हयः ॥५८॥
माधवश्च महादेवि षष्ठः संपरिकीर्तितः ।
विश्वा विश्वेश्वरी चैव हाराद्री वीरनायिका ॥५९॥
अम्बा गुर्वीति योगिन्यो बीजैस्तैरेव षट् स्मृताः ।
अन्योन्यवलिताः सर्वे स्वाम्यावरणभेदतः ॥६०॥
अकारादिक्षकारान्ताः सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।
ध्यानाराधनयुक्तानां योगिनां मन्त्रिणामपि ॥६१॥
अथवा सर्वचक्राणां मध्ये विद्यां यथेप्सिताम् ।
मन्त्रं वा पूर्वमुद्दिष्टं जपन्ध्यायन्प्रसिद्ध्यति ॥६२॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तं सर्वकामफलप्रदम् ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे सर्वमन्त्रनिर्णयो नाम विंशतितमोऽधिकारः ॥२०॥

अथ एकविंशतितमोऽधिकारः

अथातः परमं गुह्यं शिवज्ञानामृतोत्तमम् ।
व्याधिमृत्युविनाशाय योगिनामुपवर्ण्णते ॥१॥
षोडशारे खगे चक्रे चन्द्रकल्पितकर्णिके ।
स्वरूपेण परां तत्र स्रवन्तीममृतं स्मरेत् ॥२॥
पूर्वन्यासेन संनद्धः क्षणमेकं विचक्षणः ।
ततस्तु रसनां नीत्वा लम्बके विनियोजयत् ॥३॥
स्रवन्तममृतं दिव्यं चन्द्रबिम्बसितं स्मरेत् ।
मुखमापूर्यते तस्य किंचिल्लवणवारिणा ॥४॥
लोहगन्धेन तच्चात्र न पिबेत्किंतु निक्षिपेत् ।
एवं समभ्यसेत्तावद्यावत्तत्स्वादु जायते ॥५॥
जराव्याधिविनिर्मुक्तो जायते तत्पिबंस्ततः ।
षड्भिर्मासैरनायासाद्वत्सरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥६॥
तत्र स्वादुनि संजाते तदा प्रभृति तत्रगम् ।
यदेव चिन्तयेद्द्रव्यं तेमास्यापूर्यते मुखम् ॥७॥
रुधिरं मदिरां वाथ वसां वा क्षीरमेव वा ।
घृततैलादिकं वाथ द्रवद्द्रव्यमनन्यधीः ॥८॥
अथान्यं संप्रवक्ष्यामि संक्रान्तिविधिमुत्तमम् ।
मृते जीवच्छरीरे तु प्रविशेद्योगविद्यया ॥९॥
निवातस्थो जितप्राणो जितासनविधिक्रमः ।
कुर्वीत वायुनावेशमर्कतूले शनैः शनैः ॥१०॥
स्वादाकृष्टिविधिं यावद्गुडे निम्बे च कारयेत् ।
श्रीखण्डगुडकर्पूरैस्ततः कृत्वाकृतिं शुभाम् ॥११॥

प्रगुणामगुण······ ······न्यङ्गेषु संदधत् ।
न्यासं कृत्वापि तत्रापि वेधं कुर्याच्छनैः शनैः ॥१२॥
निरोधं तत्र कुर्वीत घट्टनं तदनन्तरम् ।
घट्टनं नाम विज्ञेयमङ्गप्रत्यङ्गचालनम् ॥१३॥
एवमभ्यसतस्तस्य योगयुक्तस्य योगिनः ।
चलते प्रतिमा सा तु धावते चापि संमुखी ॥१४॥
पुनस्तां प्रेरयेत्तावद्यावत्स्वस्थानमागताम् ।
पतितां चालयेद्भूय उत्तानां पार्श्वतः स्थिताम् ॥१५॥
एव सर्वात्मनस्तावद्यावत्स्ववशतां गता ।
ततः प्रभृत्यसौ योगी प्रविशेद्यत्र रोचते ॥१६॥
मृते जीवच्छरीरे वा संक्रान्त्याक्रान्तिभेदतः ।
प्रक्षिप्य जलवच्छक्तिजालं सर्वाङ्गसंधिषु ॥१७॥
प्रत्यङ्गमङ्गतस्तस्य शक्ति तेनाक्रमेद्बुधः ।
स्वकीयं रक्षयेद्देहमाक्रान्तावन्यथा त्यजेत् ॥१८॥
बहून्यपि शरीराणि दृढलक्ष्यो यदा भवेत् ।
तदा गृह्णात्यसंदेहं युगपत्संत्यजन्नपि ॥१९॥
अथापरं प्रवक्ष्यामि सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
समाधानामृतं दिव्यं योगिनां मृत्युनाशनम् ॥२०॥
चन्द्राकृष्टिकरं नाम मासाद्वा योगभोगदम् ।
शुक्लपक्षे द्वितीयायां मेषस्थे तिग्मरोचिषि ॥२१॥
स्नातः शुचिर्निराहारः कृतपूजाविधिर्बुधः ।
न्यसेच्चन्द्रे कलाजालं परया समधिष्ठितम् ॥२२॥
सर्वबाधापरित्यक्ते प्रदेशे संस्थितो बुधः ।
एकचित्तः प्रशान्तात्मा शिवसद्भावभावितः ॥२३॥
तावदालोकयेच्चन्द्रं यावदस्तमुपागतः ।
ततो भुञ्जीत दुग्धेन चन्द्रध्यानसमन्वितः ॥२४॥

एवं दिने दिने कुर्याद्यावत्पञ्चदशी भवेत्।
शेषां रात्रिं स्वपेद्धयायंश्चन्द्रबिम्बगतां पराम् ॥२५॥
पौर्णमास्यां तथा योगी अर्धरात्र उपस्थितः।
जने निशब्दतां याते प्रसुप्ते सर्वजन्तुभिः ॥२६॥
चन्द्रकोटिकरप्रख्यां तारहारविभूषणाम्।
सिताम्बरपरीधानां सितचन्दनचर्चिताम् ॥२७॥
मौक्तिकाभरणोपेतां सुरूपां नवयौवनाम्।
आप्यायनकरीं देवीं समन्तादमृतस्रवाम् ॥२८॥
राजीवासनसंस्थां च योगनिद्रामवस्थिताम्।
चन्द्रबिम्बे परां देवीमीक्षते नात्र संशयः ॥२९॥
ततस्तां चेतसा व्याप्य तावदाकर्षयेत्सुधीः।
यावन्मुखाग्रमायाता तत्र कुर्यात्स्थिरं मनः ॥३०॥
ततः प्रसार्य वदनं ध्यानासक्तेन चेतसा।
निगिरेत्तां समाकृष्य भूयो हृदि विचिन्तयेत् ॥३१॥
तया प्रविष्टया देहं योगी दुःखविवर्जितः।
शक्तितुल्यबलो भूत्वा जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥३२॥
एकोऽप्यनेकधात्मानं संविभज्य निजेच्छया।
त्रैलोक्यं यौगपद्येन भुनक्ति वशतां गतम् ॥३३॥
आसाद्य विपुलान्भोगान्प्रलये समुपस्थिते।
परमभ्येति निर्वाणं दुष्प्रापमकृतात्मनाम् ॥३४॥
अथवा तन्न शक्नोति गगने परिचिन्तितुम्।
प्रतिबिम्बे तथा ध्यायेदुदकादिषु पूर्ववत् ॥३५॥
तत्पीत्वा मनसा शेषां स्वपेद्रात्रिमनुस्मरन्।
पूर्वोक्तं समवाप्नोति षड्भिर्मासैरखण्डितम् ॥३६॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे चन्द्राकृष्टयधिकारः एकविंशतितमः ॥२१॥

अथ द्वाविंशतितमोऽधिकारः

अथान्यत्परमं गुह्यं कथयामि तव प्रिये।
यन्न कस्यचिदाख्यातं योगामृतमनुत्तमम् ॥१॥
सूर्याकृष्टिकरं नाम योगिनां योगसिद्धिम्।
सम्यङ्मासचतुष्केण दिनाष्टाभ्यधिकेन तु ॥२॥
प्रहरस्याष्टमो भागो नाडिकेत्यभिधीयते।
तत्पादक्रमवृद्धया तु प्रतिवासरमभ्यसेत् ॥३॥
उदयास्तमयं यावद्यत्र सूर्यः प्रदृश्यते।
प्रदेशे तत्र विजने सर्वबाधाविवर्जिते ॥४॥
अहोरात्रोषितो योगी मकरस्थे दिवाकरे।
शुचिर्भूत्वा कृतन्यासः कृतशीतप्रतिक्रियः ॥५॥
भानुबिम्बे न्यसेच्चक्रमष्टषट्द्वादशारकम्।
शिवशक्तिगणोपेतं भैरवाष्टकसंयुतम् ॥६॥
वर्षादिऋतुसंयुक्तं मासैऋक्षादिभिर्युतम्।
अष्टारं चिन्तयेद्बिम्बे शेषं रश्मिषु चिन्तयेत् ॥७॥
तत्र चित्तं समाधाय प्रोक्तकालं विचक्षणः।
अनिमीलितनेत्रस्तु भानुबिम्बं निरीक्षयेत् ॥८॥
ततः काले व्यतिक्रान्ते सुनिमीलितलोचनः।
प्रविशेदन्धकारान्तभुवनं निरुपद्रवम् ॥९॥
तत्रोन्मीलितनेत्रस्तु बिम्बाकारं प्रपश्यति।
संधाय तत्र चैतन्यं तिष्ठेद्यावन्न पश्यति ॥१०॥
नष्टेऽपि चेतसा शेषं तिष्ठेत्कालमनुस्मरन्।
एवं मासेन देवेशि स्थिरं तदुपजायते ॥११॥

मासद्वयेन सर्वत्र प्रेक्षते नात्र संशयः ।
त्रिभिः समीक्षते सर्वं रविबिम्बसमाकुलम् ॥१२॥
प्रोक्तकालावसानेन वृषस्थे तिग्मरोचिषि ।
प्रेक्षते सूर्यबिम्बान्तः सचक्रं परमेश्वरम् ॥१३॥
उपलब्धं समाकृष्य मुखाग्रे स्थिरतां नयेत् ।
आपीय पूर्ववत्पश्चाद्वृत्तिं निश्चलतां नयेत् ॥१४॥
तत्र तेन सहात्मानमेकीकृत्य मुहूर्तकम् ।
यावत्तिष्ठति देवेशि तावत्संत्यजति क्षितिम् ॥१५॥
पश्यतो जनवृन्दस्य याति सूर्येण चैकतः ।
अनेन विधिना देवि सिद्धयोगीश्वरेश्वरः ॥१६॥
शिवाद्यवनिपर्यन्तं न क्वचित्प्रतिहन्यते ।
भुक्त्वा तु विपुलान्भोगान्निष्कले लीयते परे ॥१७॥
तदेतत् खेचरीचक्रं यत्र खेचरतां व्रजेत् ।
सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रे सरहस्यमुदाहृतम् ॥१८॥
अथवा चक्ररूपेण सबाह्याभ्यन्तरं स्वकम् ।
देहं चिन्तयतः पूर्वं फलं स्यान्निश्चितात्मनः ॥१९॥
उच्चरन्फादिनान्तां वा ध्वनिज्योतिर्मरुद्युताम् ।
विश्राम्य मस्तके चित्तं क्षणमेकं विचक्षणः ॥२०॥
त्रिशूलेन प्रयोगेन सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।
एवं समभ्यसन्मासाच्चक्रवद्भ्रमति क्षितौ ॥२१॥
मुहूर्तं स्पृशते भूमिं मुहूर्ताच्च नभस्तलम् ।
शिवारावादि कुरुते वलनास्फोटनानि च ॥२२॥
मुद्राबन्धादिकम् वाथ भाषा वा वक्त्यनेकधा ।
षण्मासान्मेदिनीं त्यक्त्वा समाधिस्थो दृढेन्द्रियः ॥२३॥
तिष्ठते हस्तमात्रेण गगने योगचिन्तकः ।
पश्यते योगिनीवृन्दमनेकाकारलक्षणम् ॥२४॥

संवत्सरेण युक्तात्मा तत्समानः प्रजायते ।
पश्यतामेव लोकानां तेजोभिर्भासयन्दिशः ॥२५॥
यात्युत्क्रम्य महीपृष्ठात् खेचरीणां पतिर्भवेत् ।
मुद्रा खगेश्वरी नाम कथिता योगिनीमते ॥२६॥
जागरित्वाथ वा योगी त्र्यहोरात्रमतन्द्रितः ।
चतुर्थेऽह्नि निशारम्भे पूजयित्वा महेश्वरम् ॥२७॥
ततोऽन्धकारे बहुले कृतरक्षाविधिर्बुधः ।
भ्रुवोर्मध्यं समाधाय क्षणं चेतः प्रपश्यति ॥२८॥
तेजो रूपप्रतीकाशं पर्यङ्कासनमास्थितः ।
प्रयोगं त्वेव सततं योगयुक्तः समभ्यसेत् ॥२९॥
पश्यते मासमात्रेण गृहान्तर्वस्तु यत् स्थितम् ।
द्वाभ्यां बहिः स्थितं सर्वं त्रिभिः पत्तनसंस्थितम् ॥३०॥
चतुर्भिर्विषयान्तःस्थं पञ्चभिर्मण्डलावधि ।
षड्भिर्मासैर्महायोगी च्छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥३१॥
सर्वज्ञत्वमवाप्नोति वत्सरान्नात्र संशयः ।
योगिनीसिद्धसंघस्य सद्भावव्याप्तिसंस्थितम् ॥३२॥
पश्यते योगयुक्तात्मा तत्समानश्च जायते ।
अनेनैव विधानेन स्वस्तिकासनसंस्थितः ॥३३॥
बिन्दुं नानाविधं त्यक्त्वा शुद्धरूपमनुस्मरेत् ।
तेनापि सर्वं पूर्वोक्तं व्याप्नोति फलमुत्तमम् ॥३४॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे सूर्याकृष्टयधिकारो द्वाविंशतितमः ॥२२॥

अथ त्रयोविंशतितमोऽधिकारः

अथातः परमं गुह्यं कथयामि तवाधुना।
सद्योपलब्धिजनकं योगिनां योगसिद्धये ॥१॥
पूर्वन्यासेन संनद्धश्चित्तं श्रोत्रे निवेशयेत्।
निवाते स्वल्पवाते वा बाह्यशब्दविवर्जिते ॥२॥
ततस्तत्र शृणोत्येष योगी ध्वनिमनावृतम्।
सुविशुद्धस्य कांस्यस्य हतस्येह मुहुर्मुहुः ॥३॥
यमाकर्ण्य महादेवि पुण्यपापैः प्रमुच्यते।
तत्र संधाय चैतन्यं षण्मासाद्योगवित्तमः ॥४॥
रुतं पक्षिगणस्यापि प्रस्फुटं वेत्त्ययत्नतः।
दूराच्छ्रवणविज्ञानं वत्सरेणास्य जायते ॥५॥
सर्वकामफलावाप्तिर्वत्सरत्रितयेन च।
सिद्धयतीति किमाश्चर्यमनायासेन सिद्धयति ॥६॥
अथवा ग्रहणे मासि कृत्वा सूर्यं तु पृष्ठतः।
पूर्वन्यासेन संनद्धः किंचिद्भित्तिमदाश्रितः ॥७॥
लक्षयेदात्मनश्छायां मस्तकोर्ध्वमनाहताम्।
धूमवर्तिविनिष्क्रान्तां तद्गतेनान्तरात्मना ॥८॥
याति तन्मयतां तत्र योगयुक्तो यथा यथा।
तथा तथास्य महती सा वित्तिरुपजायते ॥९॥
ततस्तत्र महातेजः स्फुरत्किरणसंनिभम्।
पश्यते यत्र दृष्टेऽपि सर्वपापक्षयो भवेत् ॥१०॥
तदस्याभ्यसतो मासात्सर्वत्र प्रविसर्पति।
ज्वालामालाकुलाकारा दिशः सर्वाः प्रपश्यति ॥११॥

षण्मासमभ्यसन्योगी सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
अब्दं दिव्यतनुर्भूत्वा शिववन्मोदते चिरम् ॥१२॥
अथ जातयः प्रवक्ष्यन्ते सपूर्वासनशाश्वताः ।
ह्रीं क्लां क्ष्वीं वं तथा क्षं च पञ्चकस्य यथाक्रमम् ॥१३॥
हृं यं रं लं तथा वं च पञ्चकस्यापरस्य च ।
ॠं ॠं ऌं ॡं तथा ओं औं हः अं आकर्णिकावधौ ॥१४॥
केसरेषु भकारान्ता हृं हां हिं हीं च हुं तथा ।
हूं हें हैं च दलेष्वेवं स्वसंज्ञाभिश्च शक्तयः ॥१५॥
मण्डलत्रितये शेषं सूक्ष्मं प्रेतस्य कल्पयेत् ।
ज्रकारं शूलश्रृङ्गाणामित्येतत्परिकीर्तितम् ॥१५॥
अनुक्तासनयोगेषु सर्वत्रैवं प्रकल्पयेत् ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् ठुं वषट् फट् च जातयः ॥१६॥
प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु जपेन्मालामखण्डिताम् ।
भिन्नां वाप्यथवाभिन्नामतिक्रमबलाबलाम् ॥१७॥
सकृज्जपात्समारभ्य यावल्लक्षत्रयं प्रिये ।
प्राणवृत्तिनिरोधेन ततः परतरं क्वचित् ॥१८॥
सदा भ्रमणशीलानां पीठक्षेत्रादिकं बहिः ।
प्रयोगं संप्रवक्ष्यामि सुखसिद्धिफलप्रदम् ॥१९॥
नासाक्रान्तं महाप्राणं दण्डरूपं सबिन्दुकम् ।
तद्वद्गुह्यं च कुर्वीत विद्येयं व्यक्षरा मता ॥२०॥
अस्याः पूर्वोक्तविधिना कृतसेवः प्रसन्नधीः ।
पीठादिकं भ्रमेत्सिद्ध्यै नान्यथा वीरवन्दिते ॥२१॥
तत्प्रदेशं समासाद्य मन्त्रैरात्मानमादरात् ।
विद्यया वेष्टयेत्स्थानं रक्तसूत्रसमानया ॥२२॥
बहुधानन्यचित्तस्तु सबाह्याभ्यन्तरं बुधः ।
ततस्तत्र क्वचित्क्षेत्रे योगिन्यो भीमविक्रमाः ॥२३॥

समागत्य प्रयच्छन्ति संप्रदायं स्वकं स्वकम् ।
येनासौ लब्धमात्रेण संप्रदायेन सुव्रते ॥२४॥
तत्समानबलो भूत्वा भुङ्क्ते भोगान्यथेप्सितान् ।
अथवा कृतसेवस्तु लक्षमेकं जपेत्सुधीः ॥२५॥
तर्पयित्वा दशांशेन क्षुद्रकर्मसु योजयेत् ।
तत्रोच्चरितमात्रेयं विषक्षयकरी भवेत् ॥२६॥
चक्रवद्भ्रममाणैषा योनौ रक्तां विचिन्तयेत् ।
गमागमक्रमाद्वापि विन्द.............. वारिता ॥२७॥
तत्रस्थश्चाशु संघातविघाताकुञ्चनेन तु ।
क्षणादनन्यचित्तस्तु क्षोभयेदुर्वशीमपि ॥२८॥
कृतसेवाविधिर्वाथ लक्षत्रयजपेन तु ।
महतीं श्रियमाधत्ते पद्मश्रीफलतर्पिता ॥२९॥
षडुत्थासनसंस्थाना साधिताप्युक्तवर्त्मना ।
सर्वसिद्धिकरी देवी मन्त्रिणामुपजायते ॥३०॥
शूलपद्मविधिं मुक्त्वा नवात्माद्यं च सप्तकम् ।
षडुत्थमासनं दद्यात्सर्वचक्रविधौ बुधः ॥३१॥
मुद्रा च महती योज्या हृद्बीजेनोपचारकम् ।
अथान्यत्संप्रवक्ष्यामि स्वप्नाज्ञानमनुत्तमम् ॥३२॥
हृच्चक्रे तन्मयो भूत्वा रात्रौ रात्रावनन्यधीः ।
मासादूर्ध्वं महादेवि स्वप्ने यत्किंचिदीक्षते ॥३३॥
तत्तथ्यं जायते तस्य ध्यानयुक्तस्य योगिनः ।
तत्रैव यदि कालस्य नियमेन रतो भवेत् ॥३४॥
तदा प्रथमयामे तु वत्सरेण शुभाशुभम् ।
षट्त्रिमासेन क्रमशो द्वितीयादिष्वनुक्रमात् ॥३५॥
अरुणोदयवेलायां दशाहेन फलं लभेत् ।
संकल्पपूर्वकेऽप्येवं परेषामात्मनोऽपि वा ॥३६॥

क्वचित्कार्ये समुत्पन्ने सुप्तज्ञानमुपाक्रमेत् ।
इत्येतत्कथितं देवि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ॥३७॥
नातः परतरं ज्ञानं शिवाद्यवनिगोचरे ।
य एवं तत्त्वतो वेद स शिवो नात्र संशयः ॥३८॥
तस्य पादरजः मूर्ध्नि धृतं पापप्रशान्तये ।
एतच्छ्रुत्वा महादेवी परं संतोषमागता ॥३९॥
एवं क्षमापयामास प्रणिपत्य पुनः पुनः ।
इति वः सर्वमाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ॥४०॥
ममैतत्कथितं देव्या योगामृतमनुत्तमम् ।
भवद्भिरपि नाख्येयमशिष्याणामिदं महत् ॥४१॥
न चापि परशिष्याणामपरीक्ष्य प्रयत्नतः ।
सर्वथैतत्समाख्यातं योगाभ्यासरतात्मनाम् ॥४२॥
प्रयतानां विनीतानां शिवैकार्पितचेतसाम् ।
कार्तिकेयात्समासाद्य ज्ञानामृतमिदं महत् ॥४३॥
मुनयो योगमभ्यस्य परां सिद्धिमुपागताः ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे त्रयोविंशतितमोऽधिकारः ॥२३॥

इति मालिनीविजयोत्तरं महातन्त्रम् ॥